RNI No. : UPHIN-2009/29369

डाक पंजीकरण : MISC-II/CPM/09/KPHO/2014-17
प्रधान डाकघर कानपुर–डाक प्रेषण दिनांक 29/30

द्रविड़ भारत

वार्षिक सदस्यता शुल्क 100/–

www.dbindia.org.in

सामाजिक परिवर्तन का मासिक पत्र

दिसम्बर–2016 | वर्ष – 08 | अंक : 11 | मूल्य : 5/–

सम्पादकीय

RNI No. : UPHIN-2009/29369

संपादक : उमेश्वरी देवी, मो.: 9005204074
संरक्षक मण्डल : मा. रामदीन अहिरवार (महोबा), मा. राम अवतार चौधरी (इं. जल संस्थान इलाहाबाद), मा. छविलाल वर्मा (चरखारी), मा. हरिनाथ राम (दिल्ली), मनीष कुमार मो. 9415053621
राज्य ब्यूरो प्रमुख उत्तर प्रदेश : सुनीता धीमान, 414/12, शास्त्री नगर, कानपुर (उ.प्र.), मो. : 9450871741
सहायक ब्यूरो चीफ (उ.प्र.) : चन्द्रिका प्रसाद ओमर, 49ए/52–बी, ख्यौरा, आजाद नगर, कानपुर, मो.: 9305256450
क्षेत्रीय सम्पादकीय कार्यालय :
40/69, डी–5, श्यामलाल का हाता, परेड, कानपुर (उ.प्र.), मो. : 8756157631
ब्यूरो प्रमुख कानपुर मण्डल :
पुष्पेन्द्र गौतम हिन्दुस्तानी, मल्हौसी, औरैया, उ.प्र. मो.: 9456207206
हरियाणा राज्य :
डा. रमेश रंगा, ग्राम–सराय, औरंगाबाद, पो.–बहादुरगढ़,जिला–झज्जर (हरियाणा),09416347052
कानूनी सलाहकार : एड. रामप्रकाश अहिरवार, एड. यू.के. यादव, मोती लाल वर्मा, एड. विजय बहादुर सिंह राणपूत, एड. रमाकान्त धुरिया, रामऔतार वर्मा, एड. सुशील कुमार, कानपुर
मध्य प्रदेश राज्य : पुष्पेन्द्र कुमार
कार्यालय : ग्रा. व पो.–रामटौरिया, जिला–छतरपुर
छत्तीसगढ़ राज्य :
दिलीप कुमार कोसले, मो. : 09424168170
दिल्ली प्रदेश : C/o अनिल कुमार कनौजिया C-260, हर्ष विहार, हरिनगर एक्सटेंशन पार्ट–III, बदरपुर, नई दिल्ली–44, मो. : 09540552317
राजस्थान राज्य : रघुनाथ बौद्ध, श्याम रघु फुट वियर, दुकान नं.–1, गणेश मार्केट, पुलिस चौकी के सामने, अलवर, जिला–अलवर–301001,
मो. : 09887512360, 0144–3201516
चिरंजीलाल बैरवा (व्यावस्थापक) मेहरा आदर्श विद्या मन्दिर, भीम नगर कालोनी, राज भट्टा, दिल्ली रोड, अलवर, जिला–अलवर, मो.–09829855349
बाबूलाल बौद्ध, अलवर, मो.–08058198233
संपादकीय/विज्ञापन प्रसार/पंजीकृत कार्यालय :
ग्रा व पो.–रिवई (सुनैचा), जिला–महोबा (उ.प्र.)
मो. : 9005204074, 8756157631
E-mail : dravinbharat1@gmail.com
प्रकाशक, मुद्रक एवं स्वामी
उमेश्वरी देवी द्वारा ग्रा. व पो.–रिवई (सुनैचा), जिला महोबा से प्रकाशित व श्रेय ऑफसेट प्रा. लि., 109/406, नेहरू नगर, कानपुर, 84/1, बी, फजलगंज, कानपुर से मुद्रित

प्रकाशित पत्रिका में प्रकाशित लेख, सामग्री, में संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। इसमें किसी भी प्रकार का दावा या विचार मान्य नहीं होगा। लेख के विवादित होने पर लेखक ही उत्तरदायी होगा समस्त विवादों का निपटारा महोबा न्यायालय में होगा पत्रिका का संपादन एवं संचालन पूर्णतयः अवैतनिक एवं अव्यवसायिक है।

मिशन को बढ़ाने के लिए सहयोग करें –
भारतीय स्टेट बैंक, शाखा–नवीन मार्केट, कानपुर
खाता सं.–33496621020 • IFSC CODE-SBIN005307

वैदिक धर्म तथा सामाजिक व्यवस्था का विरोध

इन सिद्धांतों को ध्यान में रखने पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि महावीर तथा बुद्ध के सामने जितनी बड़ी समस्या वैदिक धर्म की कुरीतियों पर प्रहार करने की थी उतनी ही इन अतिवादी सिद्धांतों पर आधारित उपदेशों का विरोध करने का भी थी। वैदिक धर्म की जीर्ण परंपराओं तथा विभिन्न परिव्राजकों के अव्यवस्था–मूलक उपदेशों के बीच समाज को एक समाधान की आवश्यकता थी।

जैन धर्म ने वेद की प्रामणिकता नहीं मानी और वेदवाद का विरोध किया। इसी प्रकार यज्ञ–कर्मकांड के लिए भी जैन धर्म में कोई स्थान नहीं था। ब्राह्मण धर्म की जाति–प्रथा की भी आलोचना की गई। जैन धर्म के सप्तभंगी सिद्धांत के अनुसार वेदवाक्य सर्वमान्य प्रमाण नहीं हो सकता था। घोर अहिंसावादी होने के कारण पशु–वध के विधान वाले यज्ञ का भी विरोध करना जैन धर्म के लिए स्वाभाविक ही था। जैन धर्म में निर्वाण का द्वार सभी जाति तथा वर्गों के लिए खुला था। सामाजिक धरातल पर ब्राह्मणों की अपेक्षा क्षत्रियों की अधिक प्रतिष्ठा पर जैन ग्रंथों में बल दिया गया है। पार्श्वनाथ के समान ही महावीर स्वामी ने भी ब्राह्मण धर्म के यज्ञ–विधान तथा कर्मकांड पर प्रहार किया। यज्ञ में जीवों का विनाश पाप उत्पन्न करता है। अग्नि प्रज्वलन तथा जल–मज्जन केवल बाहरी शुद्धता प्रदान कर सकता है। जन्म से निर्धारित वर्ण–प्रथा को अस्वीकार कर इन्होंने कर्म को ही वर्ण तथा जाति का आधार माना है। कर्म से ही कोई ब्राह्मण होता है और कर्म से ही व्यक्ति क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र होता है। नैतिक आचरण को आधार मानकर महावीर स्वामी ने कहा, 'जो अग्नि में तपाकर शुद्ध किए और घिसे गए सोने की भांति पाप–मल से रहित है और जो राग–द्वेष और भय से मुक्त है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।"

किंतु जैन धर्म ने शीघ्र ही वैदिक परंपरा से गुह्या संस्कारों तथा अन्य सामाजिक सिद्धांतों में समन्वय स्थापित कर लिया। इससे ने केवल जैन धर्म का प्रचार–प्रसार ही सरल हुआ वरन् कालक्रम में जैन धर्म हिंदू धर्म की एक शाखा ही हो गया।

वैदिक कर्मकांड का विरोध बुद्ध के पहले ही उपनिषद् के ज्ञान–मार्ग की स्थापना में स्पष्ट परिलक्षित होता है। उपनिषदों के चिंतको द्वारा वैदिक परंपरा को औपचारिक मान्यता तो दी गई है परंतु इस दर्शन का मूल स्वरूप सांसारिक जीव की निस्सारता, त्याग तथा संन्यास को ही उभारता है। वैदिक यज्ञ की अपेक्षा साधना, तप तथा उपासना की इसमें अधिक महत्त स्थापित है। जैन तथा बौद्ध में त्याग तथा संन्यासप्रधान जीवन को वैदिक यज्ञवाद के विरूद्ध स्थापित किया गया। बुद्ध ने वेदों को अकाट्य प्रमाण नहीं माना। बौद्ध धर्म में सार्वभौम ईश्वर की कल्पना थी ही नहीं और उनके अनुसार वेद देववाक्य नहीं हो सकता था। बुद्ध की दृष्टि में वेद मंत्र केवल जलविहीन मरूस्थल तथा पंथहीन जंगल था। बुद्ध ने घोषित किया कि वैदिक धर्महीन विद्या है। किसी भी तथ्य को व्यक्तिगत परीक्षण के बाद ही स्वीकार करना अपेक्षित है, परंपरागत प्रमाण के आधार पर नहीं। वेद को ईश्वरी ज्ञान न मानने का सीधा अर्थ था वैदिक कर्मकांड तथा यज्ञ को भी अस्वीकार करना। बुद्ध ने ब्राह्मणों को प्राचीन ऋषियों द्वारा रचित मंत्रों का अंधभाव से पुनरावृत्ति करने वाला कहा। पुरोहित केवल धन के लालच से यज्ञ कराने वाले कहे गए हैं। अश्वमेध तथा पुरूषमेध आदि यज्ञों से कोई लाभ नहीं होता। बौद्ध ग्रंथों में स्पष्ट कहा गया है कि लोग पशु–वध के कारण पुरोहितों की निंदा करते हैं और शूद्र, वैश्य तथा क्षत्रिय उनके मत को अस्वीकार कर रहे हैं। सुत्तनिपात में एक स्थान पर कहा गया है कि इसी कारण धनी ब्राह्मण भी गौतम (बुद्ध) धम्म तथा संघ की शरण में आ रहे हैं।

बौद्ध ग्रंथों में जन्म पर आधारित जाति प्रथा का घोर विरोध किया गया है। बुद्ध के अनुसार जन्म से कोई ब्राह्मण या अब्राह्मण नहीं होता वरन् कर्म से ही जाति का निर्धारण होता है। जिनमें पूर्ण ज्ञान तथा नैतिकता हो, वह देव तथा मनुष्य सब में श्रेष्ठ होता है। जैसे अग्नि सभी प्रकार की लकड़ियों से प्रज्वलित हो सकती है उसी प्रकार सभी जाति के लोग संन्यासी होकर निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं। अर्हत की स्थिति प्राप्त करने पर तो व्यक्ति के लिए वर्ण व्यवस्था निस्सार हो जाती है। जैसे गंगा, यमुना, सरयू, आदि नदियां समुद्र में मिलने पर अपनी विशिष्टता खो देती है उसी प्रकार श्रवण (संन्यासी) जीवन अपनाने पर वर्णों की पहचान समाप्त हो जाती है। बुद्ध ने अपने क्रांतिकारी उद्घोष में कहा कि जीवनहत्या करने वाले अनैतिक कर्म में रत तथा बुरे आचरण वाले व्यक्ति मरने के बाद नरक के भी भागी होंगे। ब्राह्मण वर्ण इसका अपवाद नहीं है। इसी प्रकार अच्छे कर्म करने वाले सभी लोग मरणोपरांत स्वर्ग जाएंगे। यहां यह उल्लेखनीय है कि उच्च आदर्शमय जीवन व्यतीत करने तथा शुद्ध आचरण से युक्त ब्राह्मण की बुद्ध ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। बुद्ध का प्रहार विशेष रूप से पुरोहितवर्ग पर था जो यज्ञ कराने तथा पशु वध के लिए उत्तरदायी था। यज्ञों में पुरोहितों के दक्षिणाविषयक लालच की बौद्ध ग्रंथों में निंदा की गई थी।

बौद्ध धर्म की समाजिक परिकल्पना वर्णव्यवस्था के प्रभाव से मुक्त हो, ऐसी बात नहीं थी। बौद्ध ग्रंथों में क्षत्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक बताई गई है। मानवमात्र में क्षत्रियों को श्रेष्ठ कहा गया है। रक्त शुद्धता के लिए क्षत्रियों में विशेष गर्व का वर्णन दीघनिकाय के अम्बट्ठसुत्त में हैं। यहां यह उल्लेख उचित होगा कि उत्तर–पूर्वी भारत की संन्यासप्रधान श्रमण–संस्कृति के परिवेश में ब्राह्मणों को जीवन–निर्वाह के लिए वैदिक परंपरा में मान्य साधन मिलना कठिन था। सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तनों की प्रक्रिया के कारण ऐसा होना और भी स्वाभाविक था। दस ब्राह्मण जातक में वैद्य, संदेशवाहक, कर वसूलने वाले, लकड़ी काटने वाले, व्यापारी, कृषक, कसाई आदि रूपों में ब्राह्मणों का वर्ण है। फिक ने वास्तविक ब्राह्मण तथा सांस्कृतिक ब्राह्मणों के अंतर पर बल दिया है किंतु तत्कालीन परिवर्तनशील समाज में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय दोनों अपने वैदिक परंपरागत कर्मों से गिर गए थे और हर प्रकार के पेशे अपना रहे थे। जैन तथा बौद्ध ग्रंथों में क्षत्रिय वर्ण को अधिक सम्मान देने के अनेक कारण थे। वैदिक धर्म की मान्यताएं समाज में अपनी प्रतिष्ठा खो रही थीं। इससे ब्राह्मण वर्ग के सम्मान में कमी आना अवश्यंभावी था। अनेक विद्वानों का मत है कि प्रवाहण जैवलि, अश्वपति कैकेय, राजा जनक आदि शासकों द्वारा ब्राह्मणों को दर्शन की शिक्षा देने के कारण क्षत्रिय वर्ण की अधिक प्रतिष्ठा होने लगी। क्षत्रियों की विशेष प्रतिष्ठा में यह तथ्य कुछ हद तक अवश्य रहा होगा। किंतु बड़े शासकों के अतिरिक्त सैनिक रूप में, कृषिकार्य में जनजातीय लोगों को अधिकाधिक संख्या में संलग्न करने में, राजकीय कार्यों में, कर वसूली द्वारा राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक ढांचे की सुरक्षा और विकास में नए शस्त्रधारी क्षत्रिय वर्ग की विशिष्ट भूमिका थी। नवीन धार्मिक आंदोलन द्वारा इस शक्तिशाली वर्ग को अधिक प्रतिष्ठा देना अस्वभाविक नहीं था।

साभार – प्राचीन भारत का इतिहास
पृष्ठ सं. 145 से 147
द्विजेन्द्रनारायण झा, कृष्णमोहन श्रीमाली

बौद्ध धर्म

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में धार्मिक आंदोलन का प्रबलतम रूप हम बौद्ध धर्म की शिक्षाओं तथा सिद्धांतों में पाते हैं जो पालि 'त्रिपिटक' में संकलित हैं। जैन परंपरा को ईसा की पांचवी शताब्दी में लिखित रूप प्रदान किया गया। इस कारण, बौद्ध धर्म से संबंद्ध पालि साहित्य वैदिक ग्रंथों के बाद सबसे प्राचीन रचनाओं की कोटि में आता है। बौद्ध धर्म के समुचित ज्ञान के लिए इस धर्म के त्रिरत्न–बुद्ध, धर्म तथा संघ, तीनों का अध्ययन आवश्यक है।

महात्मा बुद्ध की जीवनी

पालि ग्रंथों में बुद्ध की जीवन–संबंधी कथाओं में अनेक चमत्कारिक तथा अतिशयोक्तिपूर्ण उपाख्यान भी सम्मिलित हैं। हम इनके जीवन की इतिहासपरक प्रमुख घटनाओं की ही संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

पूर्वोत्तर बिहार में ईसा पूर्व छठी शताब्दी में शाक्यों का एक छोटा–सा गणराज्य था जिसकी राजधानी कपिलवस्तु थी और यहां के राजा का नाम शुद्धोधन था। इनकी पत्नी महामाया से ईसा पूर्व लगभग 566 में गौतम का जन्म कपिलवस्तु के निकट लुम्बिनी ग्राम के आम्र–कुंज में हुआ। जन्म के सातवें दिन माता का देहावसान हो गया। इनकी मौसी महाप्रजापति गौतमी ने बालक का लालन–पालन किया। बालक गौतम को देखकर कालदेव तथा ब्राह्मण कौण्डिन्य ने भविष्यवाणी की थी कि यह चक्रवर्ती राजा अथवा संन्यासी होगा। बालक का नाम सिद्धार्थ रखा गया और बड़े होने पर एक क्षत्रिय राजकुमार को दी जाने वाली शिक्षाएं–पुस्तकीय ज्ञान, युद्ध–प्रणाली, घुड़सवारी, मल्लयुद्ध, अस्त्र–शस्त्र प्रयोग आदि–उन्हें प्रदान की गई। किंतु सिद्धार्थ अल्प आयु से ही चिंतनशील थे। वे जम्बू वृक्ष के नीचे प्रायः ध्यानमग्न बैठे रहते थे। राजकुमार होने के कारण इन्हें हर प्रकार की सुख–सुविधा उपलब्ध थी। इनके उपयोग के लिए तीन ऋतुओं के लिए तीन अलग–अलग प्रकार के प्रासाद बनाए गए थे। मनोरम उपवन, नृत्य, वाद्य, संगीत के सरस वातावरण में सिद्धार्थ सांसारिक, दुःख की कल्पना न कर सकेंगे, ऐसा पिता शुद्धोधन का विचार था। इसी विचार से 16 वर्ष की आयु में सिद्धार्थ का विवाह यशोधरा (इनके अन्य नाम गोपा, बिंबा तथा भद्रकच्छा भी उल्लिखित हैं) से कर दिया। इनसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ। किंतु सिद्धार्थ प्रसन्न न हुए वरन् उसे मोह–बंधन मानकर 'राहु' कहा और उसका नाम राहुल रखा गया।

सांसारिक दुःख के प्रति चिंतनशील सिद्धार्थ को वैभवशाली जीवन में सुख नहीं मिला। बौद्ध ग्रंथों में उल्लिखित जीवन–संबंधी चार दृश्य बड़े प्रसिद्ध हैं जिन्हें देखकर सिद्धार्थ में वैराग्य की भावना प्रबल हो उठी। नगर में भ्रमण के समय गौतम (सिद्धार्थ) ने पहले जर्जर शरीर वाला वृद्ध, फिर रोगग्रस्त व्यक्ति और एक मृत व्यक्ति को देखा। इन तीन दृष्यों से दुःखमय जीवन के प्रति उनके मन में घोर वितृष्णा हुई। चौथा दृश्य था एक प्रसन्न मुद्रा में भ्रमण करने वाले संन्यासी का जो सांसारिक मोह–बंधन त्यागकर प्रसन्नचित था। राजप्रसाद के वैभवशाली–विलासमय जीवन से विषमता वाले ये दृश्यक्रम निश्चय ही गौतम (सिद्धार्थ) को संन्यास की ओर मोड़ने वाले थे।

दूसरी ओर शुद्धोधन पुत्र को सांसारिक वैभव में रमाने के लिए सतत प्रयत्नशील थे। एक रात अनेक रमणीय गणिकाओं का नृत्य देखते–देखते गौतम सो गए। गणिकाएं भी निदामग्न हो गई। राजकुमार गौतम की नींद सहसा टूटी तो साजश्रृंगारविहीन गणिकाएं निद्रावस्था में उन्हें बड़ी विद्रूप तथा भयानक दिखाई दी। किसी के बाल बिखरे थे, कुछ लगभग निर्वस्त्र थीं और उनमें से कुछ भयावह खर्राटे भर रही थीं। गौतम में संसार त्याग की भावना अब दृढ़ हो चुकी थी। अंत में पत्नी यशोधरा तथा शिशु को सोता छोड़कर उन्होंने गृह त्याग दिया। इस समय गौतम की आयु 29 वर्ष की थी।

सांसारिक दुःख उन्मूलन के लिए ज्ञान की खोज की उत्कृष्ट अभिलाषा में सिद्धार्थ अनेक आचार्यों के आश्रम में गए। इनमें एक थे आलार कालाम तथा दूसरे रूद्रक रामपुत्र। इन आचार्यों के आश्रम में सैकड़ों शिष्य थे। यहां गौतम ने अनेक प्रकार के कठिन योगाभ्यास सीखे किंतु उन्हें संतोष नहीं हुआ। गौतम उरुवेला पहुंचे। उन्हें वहां कौण्डिन्य आदि 5 ब्राह्मण मिले। इनके साथ उन्होंने घोर तपस्या प्रारंभ की, अन्न–जल ग्रहण न्यूनतम कर दिया। वे सूखकर नर–कंकाल के समान हो गए किंतु ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई। अतः उन्होंने इस कठिन तपस्या को त्याग दिया और सुजाता नामक कन्या के हाथों भोजन ग्रहण किया। इस कारण इन 5 ब्राह्मणों ने इनका साथ छोड़ दिया। गौतम अब गया आए। एक वट वृक्ष के नीचे समाधि लगाई इस दृढ़ निश्चय के साथ कि ज्ञान प्राप्त न होने तक समाधि भंग न करेंगे। 'मार' (कामदेव) के नेतृत्व में अनेक पैशाचिक तृष्णाओं ने उनकी समाधि भंग करने की चेष्टा की। गौतम निश्चल तथा अडिग रहे। आठवें दिन उन्हें ज्ञान (बोधि) प्राप्त हुआ और अब वे बुद्ध कहलाने लगे।

संसार के हित के लिए उन्होंने धर्म प्रचार करने का निश्चय किया। सारनाथ (बनारस) में उन्हें उरुवेला के छूटे हुए 5 ब्राह्मण मिले। उन्हीं लोगों को बुद्ध ने अपने ज्ञान का प्रथम उपदेश दिया अर्थात धर्म–चक्र–प्रवर्तन किया। वहीं बुद्ध ने संघ की भी स्थापना की। प्रथम 5 शिष्यों के अतिरिक्त अनेक वैश्यों के साथ बनारस का यश नामक धनाढ्य श्रेष्ठी भी बौद्ध होकर संघ का सदस्य बना। बुद्ध ने संघ के सदस्यों को विभिन्न क्षेत्रों में जाकर धर्म प्रचार करने का आदेश दिया।

स्वयं बुद्ध ने भी इसके बाद आजीवन धर्म का प्रचार किया। बौद्ध ग्रंथों में मगध के शासक बिंबिसार, अजातशत्रु, कोशल नरेश प्रसेनजित् आदि राजाओं को बुद्ध का अनुयायी बताया गया है। राजपरिवारों के अनेक सदस्यों ने भी बौद्ध धर्म स्वीकार किया। पूर्वोत्तर भारत के अनेक क्षत्रिय गणराज्यों ने उनके धर्म को संरक्षण तथा प्रोत्साहन ही नहीं दिया वरन् उसमें दीक्षित भी हुए। स्वयं बुद्ध के पिता, उनकी मौसी महा प्रजापति गौतमी तथा पत्नी और पुत्र ने भी इनके धर्म को स्वीकार किया। बाद में शाक्य गणराज्य के राजा भद्रिक, उसके सहयोगी आनंद, अनिरूद्ध, उपालि तथा देवदत्त ने भी बौद्ध धर्म अपनाया। यह विशेष ध्यान देने योग्य तथ्य है कि बुद्ध ब्राह्मण धर्म के अनेक तत्वों के विरोधी थे किंतु बौद्ध ग्रंथों के अनुसार इनके प्रारंभिक अनुयायियों में ब्राह्मणों की संख्या अत्यधिक है। वैश्यों ने तथा व्यापारी वर्ग ने भी बौद्ध धर्म को अपनाया तथा उनके उदार दान ने इस धर्म के प्रसार में विशेष सहायता पहुंचाई। बुद्ध ने नवीन उत्पादन–व्यवस्था का प्रत्यक्ष तथा परोक्ष समर्थन किया, जो इस वर्ग की प्रगति में भी पर्याप्त सहायक था।

अपने जीवन के अंतिम समय में पावा में बुद्ध ने चुन्द नामक सुनार के घर भोजन किया। इस कारण वे उदर विकार से पीड़ित हुए। इसी अवस्था में वे कुशीनगर आए। वहीं 80 वर्ष की आयु में उनका महापरिनिर्वाण हुआ। उन्होंने किसी को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त नहीं किया। इस संबंध में आनंद की जिज्ञासा के उत्तर में बुद्ध ने अत्यंत महत्वपूर्ण उपदेश दिया। "आनंद! ..... मैंने जो धर्म और विनय (संघ–जीवन के नियम) उपदेश किए हैं, प्रज्ञप्त किए हैं, मेरे बाद वे ही तुम्हारे शास्ता (शासक) होंगे।"

महापरिनिर्वाण के बाद बुद्ध के अवशेष को 8 भागों में विभाजित किया गया। मगध के राजा अजातशत्रु तथा इस क्षेत्र के गणराज्यों ने स्तूप निर्मित कर इसे सुरक्षित रखा।

बौद्ध धर्म की शिक्षाएं तथा सिद्धांत

बुद्ध के महापरिनिर्वाण के तुरंत बाद ही बौद्ध धर्म की पहली संगीति हुई। इसका उद्देश्य बुद्ध वचनों को सुरक्षित करना था। बौद्ध धर्म के बारे में हमें विशद ज्ञान पालि त्रिपिटक से ही प्राप्त होता है।

बौद्ध धर्म का मूलाधार **'चार आर्य सत्य'** है। इस धर्म के सारे सिद्धांत तथा बाद में विकसित विभिन्न दार्शनिक मत–वादों के ये ही आधार हैं। ये चार आर्यसत्य हैं : दुःख, समुदाय, दुःख–निरोध तथा दुःख निरोध – गामिनी – प्रतिपदा (दुःख निवारक मार्ग) अर्थात् अष्टांगिक मार्ग।

बुद्ध के अनुसार जन्म भी दुःख है, जरा (वृद्धावस्था) भी दुःख है, व्याधि भी दुख है, मरण भी दुःख है, अप्रिय मिलन भी दुःख है, प्रिय वियोग भी दुःख है। संसार को दुःखमय देखकर ही बुद्ध ने कहा था 'सब्बं दुःख' अर्थात सभी वस्तुएं दुःखमय हैं।

'दुःख समुदाय' अर्थात दुःख उत्पन्न होने के अनेक कारण हैं। सभी कारणों का मूल है तृष्णा (पिपासा अथवा लालसा)। तृष्णा से ही आसक्ति तथा राग का उद्भव होता है। रूप, शब्द, गंध, रस तथा मानसिक तर्क–वितर्क आसक्ति के कारण है। दुःखनिरोध या दुःख के निवारण के लिए तृष्णा का उच्छेद या उन्मूलन आवश्यक है। संसार में प्रिय लगने वाली वस्तुओं की तृष्णा या इच्छा को त्यागना ही दुःख निरोध का मार्ग प्रशस्त करता है। अष्टांगिक मार्ग दुःख निरोधी–गामिनी प्रतिपदा है। ये आठ मार्ग है : (1) सम्यक् दृष्टि अर्थात् सत्य और असत्य तथा सदाचार और दुराचार के विवेक द्वारा चार आर्य सत्यों की सही परख (2) सम्यक् संकल्प अथवा इच्छा तथा हिंसा से रहित संकल्प करना, (3) सम्यक् वाणी जिसका तात्पर्य है सदा सत्य तथा मृदु वाणी का प्रयोग करना, जो धर्मसम्मत हो, (4) सम्यक् कर्म या अच्छे कर्मों में संलग्न होना, (5) सम्यक् आजीव अर्थात विशुद्ध रूप से सदाचार पालन करके जीवन व्यतीत करना, (6) सम्यक् व्यायाम अर्थात् विवेकपूर्ण प्रयत्न (7) सम्यक् स्मृति अर्थात् अपने कर्मों के प्रति विवेक तथा सावधानी को निरंतर स्मरण रखना, और (8) सम्यक् समाधि अथवा चित्त की समुचित एकाग्रता।

इस अष्टांगिक मार्ग के अनुशीलन से व्यक्ति निर्वाण की ओर अग्रसर होता है। बुद्ध ने अष्टांगिक मार्ग के अंतर्गत अधिक सुखपूर्ण जीवन व्यतीत करना या अत्यधिक काया–क्लेश में संलग्न होना–दोनों को वर्जित किया है। उन्होंने इस संबंध में मध्यम प्रतिपदा (मार्ग) का उपदेश दिया है।

बौद्ध धर्म मूलतः अनीश्वरवादी है। सृष्टि का कारण ईश्वर को नहीं माना गया है। तर्क यह है कि यदि ईश्वर को संसार का रचयिता माना जाए तो उसे दुःख को उत्पन्न करने वाला भी मानना होगा। वास्तव में बुद्ध ने ईश्वर के स्थान पर मानव प्रतिष्ठा पर ही बल दिया। इसी प्रकार बौद्ध धर्म में आत्मा की परिकल्पना भी नहीं है। अनत्ता अर्थात् अनात्मवाद के सिद्धांत के अंतर्गत यह मान्यता है कि व्यक्ति में जो आत्मा है वह उसके अवसान के साथ समाप्त हो जाती है। आत्मा शाश्वत या चिरस्थायी वस्तु नहीं है जो अगले जन्म में भी विद्यमान रहे। किंतु बौद्ध धर्म में पुनर्जन्म की मान्यता है। इसी के कारण कर्म–फल का सिद्धांत भी तर्कसंगत होता है। इस कर्म–फल अगले जन्म का कारण कैसे होता है? इसके उत्तर में मिलिंद प्रश्न में कहा गया है कि जिस प्रकार पानी में एक लहर उठ कर दूसरे को जन्म देकर स्वयं समाप्त हो जाती है उसी प्रकार कर्म–फल चेतना के रूप में पुनर्जन्म का कारण होता है।

जैसे दुःख समुदाय का कारण जन्म है उसी प्रकार जन्म कारण भी कर्म–फल उत्पन्न करने वाला अज्ञान रूपी चक्र है, जिसे पारिभाषिक शब्दावली में 'प्रतीत्य–समुत्पाद' (या पालि भाषा में पटिच्च सम्मुप्पाद) कहा जाता है, अर्थात प्रतीत्य (इसके होने से) समुत्पाद (यह उत्पन्न होता है) इस चक्र के 12 क्रम हैं जो एक–दूसरे को उत्पन्न करने के कारण हैं, ये (1) अविद्या, (2) संस्कार, (3) विज्ञान, (4) नाम–रूप, (5) षडायतन, (6) स्पर्श (7) वेदना, (8) तृष्णा, (9) उपादान, (10) भव, (11) जाति और (12) जरा–मरण।

जीवन–चक्र के इन 12 कारणों में से प्रथम दो पूर्वजन्म से संबंधित हैं तथा अंतिम दो भावी जीवन से और शेष वर्तमान जीवन से संबंध रखते हैं। यह जीवन–मरण का चक्र मृत्यु के साथ समाप्त नहीं होता। मृत्यु तो केवल नवीन जीवन के प्रारंभ होने का कारण मात्र है। इस हेतु चक्र का अंत करने के लिए अविद्या का अंत आवश्यक है, और ज्ञान की अविद्या का उच्छेद करके व्यक्ति को निर्वाण की ओर ले जाने में समर्थ हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध दर्शन तथा सिद्धांत का मूल तत्व है। अन्य सिद्धांत इसी में निहित हैं। जन्म के कारण–रूपी कर्म का सिद्धांत भी इसी पर आधारित है। अविद्या तथा कर्म एक–दूसरे को उत्पन्न करने में सदैव सक्रिय रहते हैं। बौद्ध दर्शन का क्षण–भंग–वाद भी प्रतीत्यसमुत्पाद से ही उत्पन्न सिद्धांत हैं। संसार की प्रत्येक वस्तु विशिष्ट परिस्थिति तथा कारण से पैदा होती है, इसलिए संसार की सभी वस्तुएं सापेक्ष और परिस्थिति का कारण विशेष पर निर्भर और इसीलिए परिनित और अस्थायी हैं। इसी कारण वे क्षणिक भी हैं। इसी सिद्धांत से नैरात्मवाद भी सिद्ध होता है। यदि संसार की सभी वस्तुएं क्षणिक हैं तो व्यक्ति की आत्मा भी क्षणिक तथा सापेक्ष होगी, और इसी कारण वह मिथ्या भी है।

'चार आर्य सत्यों के ज्ञान तथा अनुशीलन से निर्वाण की प्राप्ति मनुष्य को जन्ममरण के चक्र से छुटकारा दे सकती है। निर्वाण प्राप्त करना व्यक्ति का स्वयं अपना उत्तरदायित्व है। इसके लिए सत् कर्म तथा सदाचार का मार्ग अपनाना अनिवार्य है। बौद्ध दर्शन, अनेक पेचीदे प्रश्न–जैसे संसार नित्य तथा शाश्वत है अथवा नहीं– आत्मा तथा परलोक संबंधी अनेक समस्याओं के बारे में मौन रहा। बुद्ध की मान्यता थी कि किसी रोग के कारण के बारे में वाद–विवाद में समय व्यर्थ करने से अच्छा है उसके उपचार का प्रयास तुरंत किया जाय। इस संबंध में बौद्ध धर्म अत्यंत व्यावहारिक प्रतीत होता है। निर्वाण प्राप्ति के लिए सदाचार तथा नैतिक जीवन पर बुद्ध ने अत्यधिक बल दिया। दस शीलों का अनुशीलन नैतिक जीवन का आधार है। ये दस शील हैं : (1) अहिंसा, (2) सत्य, (3) अस्तेय (चोरी न करना), (4) व्यभिचार न करना, (5) मद्य का सेवन न करना, (6) असमय भोजन न करना, (7) सुखप्रद बिस्तर पर न सोना, (8) संचय न करना तथा (10) स्त्रियों का संसर्ग न करना।

बौद्ध धर्म के अनुसार मनुष्य के जीवन का चरम लक्ष्य है निर्वाण प्राप्ति। निर्वाण का अर्थ है दीपक का बुझ जाना अर्थात् जीवन–मरण के चक्र से मुक्त हो जाना। निर्वाण का सिद्धांत वैदिक धर्म के मोक्ष के सिद्धांत से भिन्न है। वैदिक धर्म के अनुसार सत्कर्मों से व्यक्ति में निहित आत्मा परंब्रह्म में विलीन हो जाती है और पुनर्जन्म के चक्र से व्यक्ति छुटकारा पा जाता है। बौद्ध धर्म के अनुसार निर्वाण इसी जन्म से प्राप्त हो सकता है किंतु महापरिनिर्वाण मृत्यु के बाद ही संभव है।

संघ

बौद्ध धर्म में संघ का भी महत्वपूर्ण स्थान है जो त्रिरत्न का एक अनिवार्य अंग है। आदर्शमय जीवन का केंद्र होने के कारण इसे समाज का आदर प्राप्त हुआ। दूसरे, संघ में प्रव्रज्या लेने वाले भिक्षुओं द्वारा अनवरत धर्म उपदेश में व्यस्त रहने के कारण यह धर्म प्रचार का अत्यंत महत्वपूर्ण साधन हो गया। सारनाथ (वाराणसी के पास) में धर्म का उपदेश देने के बाद अपने प्रथम 5 ब्राह्मण शिष्यों के साथ बुद्ध ने संघ की स्थापना की। इसके बाद यश नामक धनाढ्य व्यापारी के साथ अन्य वैश्य लोगों को भी संघ का सदस्य बनाया। बौद्ध संघ से पहले ही आजीवक तथा जैन संघ विद्यमान थे। बौद्ध संघ का संगठन गणतांत्रिक प्रणाली पर आधारित था, जैसा कि संघ शब्द से ही ज्ञात होता है। बुद्ध गणतांत्रिक प्रणाली में ही जन्मे थे और उनके जीवन का आरंभिक भाग भी इसी में व्यतीत हुआ था। अजातशत्रु के मंत्री वस्सकर ने मगध राज्य द्वारा वज्जि संघ के विनाश करने की सूचना जब बुद्ध को दी तो उन्होंने मत व्यक्त किया कि संघ की एकता सुदृढ़ रहने तथा उसमें परंपरित नियमों का पालन होते रहने पर संघ का विनाश नहीं हो सकता। बुद्ध ने अप्रत्यक्ष रूप से गणतंत्र के पक्ष का ही समर्थन किया। गणतांत्रिक प्रणाली के प्रति बुद्ध के मन में मूलभूत आस्था थी, यह बात बौद्ध संघ की कार्य–प्रणाली से और भी स्पष्ट रूप से प्रमाणित होती है। बुद्ध ने प्राचीन जनजातीय जीवन के सिद्धांत को संघ के लिए उपयोगी समझा। वर्गविहीन जनजातीय जीवन में सामाजिक एकता, आपसी भाईचारा तथा संपत्ति संग्रह के प्रति अपेक्षाकृत अनासक्ति को हम संघ के नियम (विनय) में स्पष्ट रूप से पाते हैं। संघ में न तो बड़े–छोटे का कोई भेद था और न ही बुद्ध ने अपना कोई उत्तराधिकारी ही नियुक्त किया, वरन धर्म तथा विनय को ही शास्ता (शासक) माना। ये तथ्य गणतांत्रिक मूल्य के प्रति बुद्ध की आस्था को और भी ठोस आधार पर उजागर करते हैं।

संघ की कार्यप्रणाली

संघ के कार्य संपादन के लिए एक निश्चित विधान था, जो गणतांत्रिक आधार पर निर्मित था। संघ की सभा में प्रस्ताव (नत्ति) का पाठ होता था। प्रस्ताव तीन बार पढ़ने पर भी कोई आपत्ति न की गई तो उसे स्वीकृत माना जाता था। प्रस्ताव पाठ को अनुसावन कहते थे। मतभेद पर विवाद होता था और मत विभाजन छन्द (मतदान) द्वारा किया जाता था। अलग–अलग रंग की शलाका द्वारा लोग अपना मत प्रस्ताव के पक्ष या विपक्ष में प्रकट करते थे। शलाका देने तथा वापस लेने वाले व्यक्ति को शलाका–ग्राहक कहा जाता था। मतदान गुल्हक (गुप्त) तथा विवतक (प्रत्यक्ष) दोनों प्रकार से हो सकता था। सभा में आसन (बैठने) की व्यवस्था करने वाला अधिकारी 'आसन–प्रज्ञापक' होता था। मतदान के बाद बहुमत का निर्णय ही सर्वमान्य समझा जाता था। सभा की वैध कार्रवाई के लिए न्यूनतम उपस्थिति संख्या (कोरम) 20 थी। बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार के अतिरिक्त धर्मसंबंधी अध्ययन–अध्यापन तथा दर्शन के विकास में संघ की अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका रही। प्रारंभ में भिक्षुओं का आदर्शमय जीवन समाज के लिए प्रेरणा का स्त्रोत था। इसे सभी उच्च वर्ग के लोगों यानी शासक वर्ग तथा व्यापारियों ने सहायता दी।

संघ में प्रविष्ट होने को 'उपसम्पदा' कहा जाता था। प्रारंभ में स्वयं बुद्ध ने ही लोगों को प्रव्रज्या ग्रहण कराई किंतु अधिकाधिक लोगों द्वारा संघ में प्रवेश किए जाने के कारण बुद्ध ने अन्य भिक्षुओं को भी उपसम्पदा दिलाने का अधिकार प्रदान किया। संघ प्रवेश के बाद कुछ समय तक भिक्षुओं के लिए धर्म का अध्ययन करना आवश्यक था। भिक्षु लोग वर्षा–काल में छोड़कर अन्य समय धर्म का उपदेश देते हुए भ्रमण करते रहते थे। प्रारंभ में संघ का द्वार सभी जाति तथा वर्गों के लिए खुला था, किंतु शीघ्र ही बुद्ध को नवीन सामाजिक तथा आर्थिक स्थितियों और राजनीतिक शक्ति से समझौता करना पड़ा। इन्हीं कारणों से बुद्ध ने अल्पवयस्क (अर्थात 15 वर्ष से कम आयु के व्यक्ति), चोर, हत्यारों, ऋणी व्यक्तियों, राजा के सेवक, दास तथा रोगी व्यक्ति का संघ में प्रवेश वर्जित कर दिया। आनंद के बहुत आग्रह करने पर बुद्ध ने नारियों को संघ में प्रवेश की अनुमति दी। किंतु इससे होने वाली हानि की चर्चा करते हुए बुद्ध ने कहा कि नारी प्रवेश से संघ चिरस्थायी नहीं हो पाएगा।

संघ में भिक्षुओं को कठोर नियम के अंतर्गत रहना पड़ता था। वे कासाय (गेरुआ) वस्त्र धारण करते थे। प्रातःकाल भिक्षाटन तथा दिन में धर्म प्रचार के बाद वे संघ में लौटते थे। समय–समय पर पातिमोक्ख विधि–निषेधों का पाठ भिक्षुओं की सभा में किया जाता था। अपराधी भिक्षुओं को दंड देने का भी विधान था। गृहस्थ जीवन में रहकर ही बौद्ध धर्म को मानने वाले लोगों को उपासक कहा जाता था। ऐसे लोगों की संख्या दिनों दिन बढ़ती जा रही थी, इनमें व्यापारी वर्ग के सदस्य काफी अधिक थे।

बौद्ध धर्म की लोकप्रियता के कारण

तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन में बौद्ध धर्म की अनेक संदर्भों में बड़ी उपादेयता थी।

जिस वैदिक समाज ने उत्पादन में लौह तकनीक के प्रयोग तथा प्रसार की महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, उसी समाज की अनेक प्राचीन मान्यताएं आर्थिक प्रगति के लिए अनुकूल नहीं थीं। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्ग को व्यापार से संलग्न होने की मनाही थी। वैश्य वर्ग सम्मान की दृष्टि से समाज में तीसरी श्रेणी में आता था। समुद्री व्यापार को वैदिक परंपरा के धार्मिक ग्रंथों में निंदित माना गया है, जबकि बौद्ध साहित्य में समुद्री व्यापार के प्रति अनुकूल दृष्टिकोण दीखता है। यह स्वाभाविक ही था कि वैश्य वर्ग बौद्ध धर्म को प्रोत्साहन देता। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी, निर्मित गया तथा सांची के स्तूपों में वर्णित दृश्यों से भी स्पष्ट होता है कि वैश्य वर्ग ने बौद्ध धर्म को अपनाकर तथा दान आदि देकर विशेष प्रोत्साहन दिया। स्वयं बुद्ध के समय में ही अनाथपिण्डिक तथा यश नामक श्रेष्ठियों द्वारा बौद्ध धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा प्रकट करने से भी यह तथ्य प्रमाणित होता है। अहिंसामूलक बौद्ध धर्म की शिक्षाएं सिद्धांत रूप में साम्राज्यवादी युद्धों के विपरीत पड़ती थी। इन युद्धों में व्यापारी वर्ग की ही अधिक हानि होती थी। युद्ध की स्थिति में व्यापारियों की संपत्ति की सुरक्षा भी खतरे में पड़ जाती थी। इस काल में समाज के धनाढ्य वर्ग को ऐसे नियम तथा सिद्धांतो की आवश्यकता थी जो व्यक्तिगत संपत्ति की सुरक्षा तथा संपत्ति के अधिकार को किसी–न–किसी रूप में मान्यता प्रदान करें। जैन तथा बौद्ध धर्म की संपत्ति संग्रह न करने की शिक्षा केवल भिक्षुओं के लिए ही सार्थक हो सकती है जब कि अस्तेय (अर्थात चोरी न करना) संपत्ति के अधिकार को अप्रत्यक्ष रूप से समर्थन देता है। बौद्ध संघ में ऋणी व्यक्ति का प्रवेश वर्जित करना भी इसमें सहायक सिद्ध होता है। इस काल के ब्राह्मण विधि–निर्माताओं ने सूद तथा ब्याज प्रथा की निंदा की है, जैसा कि आपस्तम्ब तथा बौधायन धर्म सूत्रों में उल्लिखित है। किंतु ऋण लेने की प्रथा व्यापार के लिए अत्यंत आवश्यक थी। बौद्ध ग्रंथों में व्यापार के लिए ऋण लेने की प्रथा की चर्चा है किंतु इसकी निंदा नहीं की गई है। वस्तुओं के मूल्य तथा क्रय–विक्रय की कुशलता के संबंध में व्यापारियों को अनेक उपदेश दिए गए हैं जो उनकी समृद्धि में सहायक सिद्ध होते हैं। ब्राह्मण धर्म में भोजन–संबंधी आचार–विचार तथा गणिकाओं के प्रति दृष्टिकोण नागरिक जीवन के क्रिया–कलापों के अनुकूल नहीं था, किंतु बौद्ध धर्म की मान्यताएं शहरीकरण की प्रक्रिया में सहायक थीं।

लोहे के प्रयोग के कारण सैनिक साजो–सामान तथा अस्त्र–शस्त्र में क्रांतिकारी परिवर्तन आया। शिल्पकार शस्त्र निर्माण में नए प्रयोग कर रहे थे। अजातशत्रु की सेना में महाशिलाकंटक तथा रथमूसल नामक नए उपकरण इसके ज्वलंत प्रमाण हैं। इस कारण शस्त्रधारी क्षत्रिय वर्ग निश्चित ही पहले से अधिक शक्तिशाली हुआ। क्षत्रिय लोग पुरोहितों के विरूद्ध अपनी सामाजिक तथा राजनीतिक महत्ता के प्रति सचेत हुए। समाज में व्यवस्था समाप्त करना, कलह का अंत करना तथा कृषि–भूमि की सुरक्षा करना क्षत्रियों, विशेष रूप से क्षत्रिय शासकों का कर्तव्य माना जाने लगा जिसके बदले राजा कर लेने का अधिकारी समझा जाता था। व्यापारी वर्ग के लिए आवश्यक था कि वह अपने राज्य तथा कबीले की सीमा से बाहर के लोगों से व्यापारिक लाभ के लिए अच्छे संबंध रखे। उसे चोर–लुटेरों से मुक्त सुरक्षित व्यापार मार्गों की भी आवश्यकता थी जिन्हें एक विस्तृत राज्य ही उपलब्ध करा सकता था। किंतु साम्राज्य विस्तार करने वाले चक्रवर्ती धार्मिक धम्म राजा के आदर्श का बुद्ध द्वारा प्रतिपादन आकस्मिक न रहा होगा। अशोक के अतिरिक्त अन्य किसी सम्राट ने इस सिद्धांत को मान्यता नहीं दी, किंतु सैद्धांतिक रूप से ही सही, यह आदर्श व्यापार की प्रगति का पोषक प्रतीत होता है।

हालांकि संघ में रहने वाले भिक्षुओं के लिए बने नियम नवीन सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तनों के विरूद्ध प्राचीन जनजातीय मूल्यों–सामाजिक समानता, व्यक्तिगत संपत्ति का अभाव आदि–पर अधिक बल देते हैं। किंतु हम स्पष्ट रूप से देख चुके हैं कि बौद्ध धर्म की अनेक शिक्षाएं नए सामाजिक–आर्थिक परिवर्तन के अनुकूल थी।

इस प्रकार जैन तथा बौद्ध धर्म ने नवीन कृषि–प्रणाली के विकास में बाधक वैदिक यज्ञों का विरोध किया। दूसरी ओर अपने समकालीन अनेक परिव्राजक संप्रदायों के अतिवादी तथा अव्यवस्थाजनक मतवादों का खंडन किया। साथ ही नई उत्पादन तकनीक पर विकसित हो रहे समाज को वैचारिक तथा धार्मिक समर्थन भी दिया। बौद्ध ने संघ का द्वार सभी वर्गों तथा जातियों के लिए अवश्य खोला किंतु जाति निर्धारण को जन्म के बदले कर्म पर आधारित करने का प्रयास जाति प्रथा को पुष्ट ही करता है। वर्ण–व्यवथा के उन्मूलन का प्रयास केवल संघ के स्तर तक ही सीमित था। जैन तथा बौद्ध धर्म अहिंसावादी तथा शांति के पोषक थे। इस कारण वैश्य तथा व्यापारी वर्ग ने इन धर्मों को अपनाया तथा उन्हें संरक्षण प्रदान किया। धर्म से ईश्वर, आत्मा, यज्ञ तथा पुरोहितों की भूमिका समाप्त करने का बौद्ध तथा जैन (आत्मा के सिद्धांत को छोड़कर) धर्मों के प्रयास निस्संदेह क्रांतिकारी थे। किंतु इसका लाभ काफी हद तक उच्च वर्ग को ही मिला।

मान्य इतिहासविद् रामशरण शर्मा के अनुसार बौद्ध धर्म के सिद्धांत नई आर्थिक व्यवस्था तथा उपज के अधिशेष पर विकसित हो रहे नगरीय जीवन के अनुकूल थे। नई कृषि प्रणाली, सिक्कों के प्रचलन तथा व्यापार की प्रगति से शासक तथा व्यापारी दोनों अत्यधिक धनाढ्य हो रहे थे, किंतु साथ में निर्धनता भी बढ़ रही थी। वास्तव में उत्पादन में संलग्न श्रमिक वर्ग की दशा तथा समस्याओं का निम्न वर्ग का व्यक्ति संन्यासी या भिक्षु तो हो सकता था, किंतु उत्पादन के मूल में निहित श्रम तथा श्रमिक की सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रश्न तत्कालीन बौद्ध आंदोलन का आधार या दुःखवाद का हिस्सा नहीं था।

साभार – प्राचीन भारत का इतिहास
पृष्ठ सं. 151 से 161
द्विजेन्द्र नारायण झा, कृष्ण मोहन श्रीमाली

क्या हिंदूओं की तबाही का कारण धर्म नहीं ?

सारे भारतीय इतिहास पर दृष्टि डाली जाये तो दो बातें बहुत उभर कर सामने आती हैं. पहली यह है कि यहां बराबर हमलावर आते रहे हैं, वे प्रायः एक ही रास्ते से आते थे और एक ही रास्ते से लौटते थे। दूसरी बात यह है कि हिंदुओं ने मिल कर कभी उनका मुकाबला नहीं किया।

986 से 1026 तक गजनी से दो लुटेरे (सुबुक्तगीन और उसका पुत्र महमूद) लगभग 30 बार हिमालय के दर्रों से आये। सदा उन्हीं नदियों के पार गये तथा उन्हीं सड़कों पर से गुजरे, जिन पर से पहली बार गुजरे थे।

उनके केवल आने और जाने के मार्ग एक ही थे। बल्कि उन की कार्यप्रणाली भी सदा एक समान रही। वे रास्ते में पड़ने वाले स्थानीय राजा को हराते। उसे या तो मार दिया जाता या अपना जागीरदार बना लिया जाता था। फिर उस इलाके को अपनी सरगर्मियों का केन्द्र बनाकर पास के इलाकों पर चढ़ाई की जाती। उन्हें लूट कर हराया जाता था।

प्रतिरक्षा से उदासीन

सर यदुनाथ सरकार ने लिखा है , " भारत में इस्लामी सेना के पूर्वी देशों में विस्तार को इतिहास में ठीक तौर से देखा जा सकता है। उसने समान तरीका अपनाया था। सबसे पहले कुछ वर्षों तक सीमा के पार हमले किये। दूसरी अवस्था में सेना लेकर आक्रमण किया जिसमें निकटतम हिंदू राजा को घनघोर लड़ाई में पराजित कर, उसे (राजा को) जागीरदार बना दिया तथा उसके राज्य को हिंदुस्तान में और आगे बढ़ने के लिये मित्र केन्द्र बना लिया।

" अंत में यह जागीर एक अंतिम निष्फल लड़ाई के बाद समाप्त कर दी गई तथा मुसलमान साम्राज्य में मिला ली गई।

"इस तरह अपनी सीमांत प्रदेश प्रतिवर्ष घटते चले गये और इस्लामी अधिराज्य उत्तर भारत के मैदानों में और भीतर तक फैलता चला गया। यह प्रक्रिया सैकड़ों सालों तक चलती रही।" (भारत का सैन्य इतिहास, पृ.33–34)।

महमूद के आक्रमणों के 25–26 वर्षों में परस्पर युद्धरत हिंदू राजा केवल पांच बार इकट्ठे हुए। लेकिन ये पांचों अवसर भी ऐसे थे कि साफ दिखाई देता था कि संयुक्त मोरचा अवश्य असफल रहेगा। इस अवसरों पर क्या किया गया था ?

तब संयुक्त मोरचे वाली कोई बात नहीं थी। एक या दो राजाओं को जब अपनी तबाही दौड़ी आती प्रतीत हुई तो उन्होंने अंतिम आसरे के तौर पर पड़ोसी राजाओं से तबाही से बचने के लिये अनुनयविनय की। इस से ज्यादा कुछ नहीं था। इन 25–26 वर्षों के दौरान इलाके के सब राजाओं की ऐसी बैठक तक नहीं हुई जिस में भावी आक्रामकों का कुशलतापूर्वक सामना करने के संयुक्त प्रयास की बात उठी हो।

मेजर गौतम शर्मा ने अपनी पुस्तक 'इंडियन आर्मी थ्रू एक एजिज' में लिखा है, " यदि उत्तरी भारत के शासकों में दूरदर्शिता होती तो उन आक्रामकों को सिंधु नदी के पास पहुंचने से बहुत पीछे ही रोका जा सकता था।" (पृ. 48)

इसी विषय में विचार व्यक्त करते हुये रोमिला थापर ने लिखा है, " हर बार विभिन्न आक्रामक इन दर्रों से घुसे थे। फिर भी इन रास्तों को रोकने के लिये कुछ भी नहीं किया गया, जब कि इस इलाके के प्रतिरक्षा करना स्थानीय शासकों का कर्तव्य था। यदि चीन की तरह की महान दीवार नहीं बनाई जा सकती थी तो कम से कम इन दर्रों के साथ–साथ किलाबंदी तो की जा सकती थी। शायद उन लोगों में प्रतिरक्षा की जरूरत अनुभव करने वाली चेतना का बुनियादी तौर पर अभाव था।" (ए हिस्ट्री ऑफ इंडिया, प्रथम भाग, पृ.238)

इस में शक नहीं कि यदि उन आक्रांताओं के हमलों के शिकार सब राजा मिलकर सामना करते तो वे उन के दांत खट्टे कर सकते थे, क्योंकि इनकी सेनाएं काफी होती। दूसरे इन्हें ज्यादा दूर नहीं चलना था। रसद पास ही मिल सकती थी और ये इलाके के चप्पे–चप्पे से परिचित थे।

आक्रांताओं ने केवल राजाओं से राजकोष और भूमि छीनी हो, ऐसी बात नहीं। उन्होंने शहरों और गांवों को लूटा, जलाकर धूल में मिलाया, औरतों व मर्दों को हजारों की संख्या में बंदी बनाया और बड़े बड़े धर्मस्थानों का बुरा हाल किया। लेकिन हिंदू जनता में इस से भी उठने, हमलावर का सामना करने और उसे हानि पहुंचाने के भाव तक जागृत नहीं हुये।

1008 ई. मे महमूद ने मथुरा पर हमला किया। वहां के विशाल, सुन्दर और समृद्ध मंदिरों को देख कर वह हैरान रह गया था। वहां के एक मन्दिर, जिसे एक मुस्लिम इतिहासकार ने कृष्ण जन्म भूमि मंदिर बताया है, के विषय में महमूद ने खुद कहा था कि ऐसी इमारत को बनवाना हो तो एक लाख दीनार से कम खर्च न होगा। यदि बहुत अनुभवी एवं योग्य कारीगर भी लगाए जाएं तो वे भी 200 वर्ष से कम समय में इसे नहीं बना पाएंगे। (इलियट व डाउसन कृत द हिस्ट्री ऑफ इंडिया ऐज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियंस, पृ. 44)

जब महमूद मथुरा पहुंचा तो उसे रोकने या उसका सामना करने के लिये कोई नहीं निकला। सेना ने सारे शहर को लूटा और मंदिर को जला दिया।

मथुरा से उसने 98,300 मिस्काल (साढ़े चार माशे की तोल) सोना, चांदी की 200 मूर्तियां, 5000 दीनार मूल्य की दो लाल मणियां, 450 मिस्काल का एक नीलम और अन्य बहुत सी बहुमूल्य चीजें लूटी। अलउत्बी ने लिखा है, " महमूद मथुरा से इतने लोगों को कैदी बनाकर ले गया था कि प्रत्येक को उसने ढाई रूपये में बेचना चाहा तो खरीददार नहीं मिले थे,

1014 ई. में थानेश्वर पर हमले के दौरान महमूद ने दो लाख हिंदू औरतों को बंदी बनाया था। इनमें से अधिकांश को उसने अपने हरम के लिये भेज दिया था। ये औरतें हिंदू राजाओं के राज्यों में से मीलों तक गुजरी। ऐसा एक बार ही नहीं हुआ। मुस्लिम इतिहासकारों के अनुसार अनेक बार ऐसा हुआ। लेकिन इन औरतों के पिताओं, भाइयों और पतियों ने उत्तर की ओर बढ़ रहे हमलावारों के काफिलों पर कभी आक्रमण नहीं किया, उन्हें छुड़ाने का कभी प्रयत्न नहीं किया।

हिंदूओं के तब 150 साल से अति प्रसिद्ध चले आ रहे सोमनाथ के मंदिर पर महमूद ने 1026 ई. में हमला किया। इस मदिर की हिंदुओं के लिये कितनी महिमा थी, इसका अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि इसमें 1000 ब्राह्मण पुजारी थे। कहा जाता है कि मंदि की मूर्ति, लिंग के लिये छः सात सौ मील दूर स्थित कश्मीर से प्रतिदिन ताजे फूल आते थे। 1000 मील दूर बह रही गंगा से लिंग के स्नान के लिये गंगाजल प्रतिदिन पहुंचता था। 10,000 गांव मंदिर की जागीर थे।

हिन्दू देखते रहे

मंदिर के एक कोने में 200 मन की सोने की जंजीर थी जिस में घंटे बंधे थे। 350 गायक गयिकायें और नर्तक नर्तकियां मंदिर के द्वार पर नाच और गान के लिये थी। दूसरे अभिलेख के अनुसार 500 नाचने गाने वाली लड़कियाँ थीं और 200 संगीतज्ञ। बहुत से हिंदू राजाओं ने भी अपनी बेटियां मंदिर में चढ़ाई हुई थी।

इस मंदिर पर हमला करने को पहुंचने के लिये महमूद को 30 हजार घुड़सवार और बहुत सा साजोसमान लेकर लगभग 1000 मील लांघ कर आना पड़ा। रास्तें में अनेक कठिनाईयों का सामना भी करना पड़ा। वहां पहुंचने से पहले वह मुलतान गया। यहां उसने पुनः दलबल गठित किया, रसद भरी और साजसमान की टूटफूट की मरम्मत करवाई। परंतु रास्ते में या मुल्तान में उसे किसी ने कुछ नहीं कहा। **उसका जरा भी विरोध नहीं किया था।**

मुलतान में महमूद काफी देर तक ठहरा। उसके इरादों के बारे में सबको पता था। कुछ हिंदू राजा मुकाबला करने के साधनों पर विचार करने के लिये इकट्ठे भी हुये, क्योंकि उनमें से हर एक की भूमि उसके रास्ते में पड़ती थी। लेकिन ये विचार, विचार ही रहे। किसी ने भी उस पर उस समय हमला नहीं किया, जब वह मुलतान में अपने दलबल को पुनर्गठित कर रहा था।

जब महमूद ने हमला शुरू कर दिया तो अकेले दुकेले कुछ राजाओं ने अपनी अपनी सीमा में थोड़ा सा विरोध किया। परंतु बाकी राजाओं में से कुछ तो उसी समय संधि के लिये गिड़गिड़ाने लगे जब उसने केवल अपना आगमन बताने के लिये सीमा पर थोड़ी सी आहट की थी। दूसरे राजा तो इस स्थिति के आने से भी पहले ही गिड़गिड़ाने लगे थे।

बहुत सी हिंदू सेना ने इस अंधविश्वास में सामूहिक रूप में हथियार डाल दिये कि सोमनाथ शहर में सोम भगवान द्वारा आर्शीवाद प्राप्त एवं रक्षित सेना महमूद और उसकी संपूर्ण सेना का संहार कर देगी। उन्हें सोमनाथ में हिंदू सेना की विजय के लिये अपने अपने क्षेत्र की रक्षा करना मूर्खता और अनावश्यक प्रतीत हुआ। ज्यों ही उन्होंने हथियार डाले, महमूद ने एक एक आदमी को कत्ल करवा दिया।

जब महमूद सोमनाथ शहर पहुंचा, वहां हजारों सैनिक और असैनिक हिंदू थे। वे रास्ते के अंधविश्वासी लोगों से भी कहीं आगे बढ़े हुये थे। उन्होंने न शहर की प्रतिरक्षा के लिये कुछ किया था और न युद्ध की कोई योजना बनाई थी। वे चमत्कार देखने की प्रतीक्षा में आंखें फाड़ें बैठे थे।

इतिहासकार एल्न असीर ने लिखा है कि जब महमूद ने सोमनाथ के किले के मुख्य दरवाजों पर धावा बोला, तब किले की दीवारों पर बैठे लोग इस ख्याल से प्रसन्न हो रहे थे कि ये दुस्साहसी मुसलमान अभी चंद मिनटों मे नष्ट हो जाएगें। वे मुसलमानों को बता रहे थे कि हमारा देवता तुम्हारे एकएक व्यक्ति को नष्ट कर देगा।

दूसरे दिन जब महमूद ने मारकाट का हुक्म दिया तो दीवारों पर तमाशबीन बैठे हिंदू भागने लगे। महमूद के सिपाहियों ने सीढ़ियां लगाकर ऊपर के लोगों को ऊपर ही घेर लिया और भयानक नरसंहार शुरू कर दिया। इस पर हिंदुओं का एक दल दौड़ता हुआ मंदिर की मूर्ति के सामने धरती पर लेट कर उससे विजय के लिये प्रार्थना करने लगा। अब रात हो जाने के कारण महमूद ने युद्ध बंद कर दिया।

दूसरी सुबह जब फिर नरसंहार शुरू कर हुआ तब शहर के सब बचेखुचे हिंदू उस मंदिर में भर गये। मंदिर के द्वार पर अत्यंत भयानक बूचड़खाना खुल गया। हिंदुओं के दल के दल मंदिर में प्रवेश करते, उनके हाथ गरदन के पास जुड़े होते, वे रोते और बड़े भाववेशपूर्ण ढंग से सोमनाथ की मूर्ति के आगे गिड़गिड़ाते व प्रार्थना करते थे। फिर वे मरने के लिये बाहर निकलते। ऐसा तब तक होता रहा। जब तक प्रत्येक को कत्ल नहीं कर दिया गया। (एच.एम. इलियट कृत द हिस्ट्री ऑफ इंडिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियंस पृ. 470)

सारा शहर लूटा गया। हजारों हिंदू कत्ल कर दिये गये। जो जहां मिला। वहीं मार दिया गया। हिंदुओं का सर्वोच्च और पवित्रतम शहर व मंदिर नष्ट कर दिया गया। लेकिन तब भी आसपास के हिंदुओं की सेनाएं अक्षुण्ण बनी हुई थी। वे सोमनाथ पर हमला कर के महमूद को सबक सिखा सकती थी। उसकी वापसी के समय भी हमला किया जा सकता था। लेकिन वे माई के लाल अपनी जगह से टस से मस नहीं हुये।

इसी तरह, न हिंदू जनता में सोमनाथ को नष्ट करने पर रोष की लहर दौड़ी और न महमूद को सबक सिखाने के लिये आवाज उठी। यहां यह उल्लेखनीय है कि ऐसा इस बार ही नहीं हुआ। बल्कि पहले भी ऐसा ही होता रहा है। मेगस्थनीज ने इस से 1300 साल पहले लिखा था। " जब सिकन्दर ने हमला किया, तब क्षत्रिय उसकी सेना से लड़ रहे थे और स्थानीय किसान शांत भाव से अपने खेतों में ऐसे हल चला रहे थे, जैसे मानों कुछ हुआ ही नहीं।

यही कारण हे कि हिंदुओं ने सोमनाथ मंदिर के जीर्णोद्धार की ओर भी शताब्दियों तक ध्यान नहीं दिया। महमूद के बाद 1393 में मुजफ्फरशाह के द्वारा इसे लूटने के पश्चात 1947 में देश के स्वतंत्र होने के बाद ही इसका जीर्णोद्धार किया गया – लगभग 550 वर्षों के उपरान्त।

यहां यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि 1842 में अंग्रेज सेना की इनफेंटरी रेजीमेंट ने जब कंधार से काबुल तक मार्च करते हुये मार्ग में गजनी के स्थान पर एक ऐतिहासिक युद्ध लड़ा। तब वह बटालियन सुल्तान मुहम्मद के मकबरे से सोमनाथ मंदिर के द्वार वापस ले आई थी। लेकिन उन्हें आज तक सोमनाथ मंदिर में नहीं पहुंचाया जा सका। शायद वे भ्रष्ट हो गये।

जब महमूद वापस गया। उसकी सेनायें धीरे–धीरे गई। क्योंकि खेमे, रसद और अन्य सैनिक सामान बहुत ज्यादा था। दूसरे उन्हें मरूस्थल को पार करना था। एक स्थिति तो ऐसी भी आई। जब पीने के पानी की कमी का सामना करना पड़ा और ताजा रसद प्राप्त करने में बहुत कठिनाई हुई। फिर भी कहीं किसी हिंदू ने उसे किसी प्रकार नहीं छेड़ा।

1030 में महमूद की मृत्यु के बाद लगभग 160 वर्षों तक भारत पर कोई व्यवस्थित आक्रमण नहीं हुआ। हुआ। यद्यापि अकेल दुकेले तुर्क बार बार दिल्ली और उसके पूर्व के हिंदू प्रदेशों पर हमले करते रहे। इस अरसे के दौरान मुसलमानों की राजनीतिक और सैनिक शक्ति में काफी कमी आ गई थी। इस दौरान राजपूत मिलकर प्रयास करते तो पंजाब में विदेशी (हमलावर) शासकों को खदेड़ा जा सकता था।

जब तुर्कों पर हमला करने की जरूरत थी। राजपूत प्रतिरक्षा की कमजोर नीति से चिपटे रहे। उनकी भूमिग्रहण करने की उमंग का लक्ष्य अपने हिंदू पड़ोसी थे और उनकी जुझारू शक्ति का आपसी लड़ाइयों में अपव्यय हुआ। जिससे तुर्कों को पक्की जीत प्राप्त करने में सहायता मिली और सब राजपूतों का एक सा संहार हुआ। (देखें, लेक्चर्स आन राजपूत हिस्ट्री, पृ. 74–75)

1191 में मुहम्मद गोरी ने नए अध्याय की शुरूआत की। जब उसने पृथ्वीराज पर हमला किया। वह अपने शक्तिशाली पड़ोसी राजाओं के साथ निरर्थक लड़ाई झगड़ों में व्यस्त था।

इस राजाओं में एक था कन्नौज का राजा जयचंद। जो अश्वमेध यज्ञ कर के सर्वोपरि सम्राट बनने की इच्छा रखता था। पृथ्वीराज ने पहले उसकी मंगेतर, देवगढ़ के यादवों की राजकुमारी का, अपहरण किया था और उसकी लड़की से शादी कर ली थी।

दूसरा था बुंदेलखण्ड में चंदेल कुल का राजा परमादी। तीसरे थे गुजरात के सोलंकी, जो पृथ्वीराज के चाचा कान्हा की मूर्खता के कारण उसके शत्रु बन गए थे। उन्होंने ही पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर का कत्ल किया था।

1191 में पृथ्वीराज की सेना तुर्की सेना से संख्या में बहुत ज्यादा थी अतः गोरी भाग निकला, परंतु अगले वर्ष उसने फिर हमला किया। ऐसा उल्लेख मिलता है कि इस बार सोलंकियों और गहरवारों (जयचंद आदि) ने गोरी का लिखा था कि यदि इस समय पृथ्वीराज पर आक्रमण किया जाए तो वे उसकी सहायता कर सकते हैं।

आपसी झगड़े

इस बार उस की सेना पृथ्वीराज की सेना से बहुत कम नहीं थी। अतः पृथ्वीराज ने पास पड़ोस के राजाओं को इकट्ठा कर के संयुक्त मोरचा बनाये रखने की कोशिश की। लेकिन जयचंद सहित अन्य सब राजा इससे न केवल पृथक रहे, बल्कि वह और सोलंकी अपनी अपनी सेनायें लेकर गोरी की सहायता के लिये भी पहुंच गये। पृथ्वीराज के बहुत से वीर संयोगिता अपहरण कांड में काम आ चुके थे।

पृथ्वीराज अकेला ही मैदान में डटा और बुरी तरह पराजित हुआ। युद्ध से भागता हुआ बंदी बनाये जाने के बाद कत्ल कर दिया गया। इसके बाद कुछ ही सप्ताहों में गोरी ने हर राजपूत राजा को बुरी तरह हरा दिया।

पृथ्वीराज उस युग का विशिष्ट योद्धा था। परंतु वह यह बात नहीं समझ सका कि तुर्कों के द्वार पर आ खड़े होने की स्थिति में पड़ोसियों से लड़ाई झगड़े बनाये रखना आत्मघात है।

यहां यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि पृथ्वीराज की हार से किसी ने उचित शिक्षा नहीं ली। पृथ्वीराज की महिमा में रचे गये 'पृथ्वीराज रासो' में इस संपूर्ण पराजय के लिये हमलावारों की वहशियाना रणनीति की कटु शब्दावली में निंदा की गई है और स्थानीय बौद्धों को जी भर का गालियां दी गई है। कहा गया है कि उनकी अहिंसा की शिक्षा के कारण हिंदू रणछोड़ बने।

पर यह आरोप विदेशी हमलों की स्थिति में भी राजपूत की परस्पर लड़ते झगड़ते रहने की आत्मघाती दुर्नीति को ढकने का दुर्बल प्रयास मात्र है। गोरी की उसकी रणनीति के लिये निंदा करना बहुत बचकानापन है। क्या हमलावर और शत्रु प्यार की वर्षा करने के लिये आते हैं, जो उनसे सुखद रणनीति की आशा की जाये?

दूसरे, न तो पृथ्वीराज बौद्ध था, न उसकी सेना और न ही अन्य कोई राजपूत, और न ही पृथ्वीराज के सैनिकों ने अहिंसा दिखाई, 1191 में संख्या में बहुत ज्यादा सेना होने के कारण उसी पृथ्वीराज की सेना ने गोरी को भगाया भी था। फिर बौद्धों के सिर इल्जाम कैसे दिया जा सकता है?

16वीं शताब्दी में गोरियों के उत्तराधिकारी मुगल बने। 1527 ई. में बाबर के साथ राणा सांगा का कण्वाह (खनवा) में युद्ध हुआ। वैसे उसे भारत पर हमला करने के लिये खुद सांगा ने ही निमंत्रित किया था। वह चाहता था कि बाबर दिल्ली को पहले लूट ले, ताकि उसके लौटने के बाद वह उसे (दिल्ली को) आसानी से अपने कब्जे में कर सके।

लेकिन जब बाबर को लौटने की जगह नहीं स्थापित होते देखा तो राणा सांगा का स्वप्न चूर चूर हो गया। वह बौखला कर युद्ध पर उतर आया और इसे नाम दिया ' देशरक्षा' का।

इस दफा पहली बार संयुक्त मोरचा बनाकर टक्कर ली गई। लेकिन यह संयुक्त मोरचा केवल उन्हीं का था, जिन्हें बाबर के हमले से पहले के अभियानों में राणा सांगा ने अपने अधीन कर रखा था। इस मोरचे में कोई भी स्वतंत्र राजा शामिल नहीं था। सांगा ने कोशिश तो की थी कि सब हिंदू इकट्ठे होकर सामना करें, परंतु उसे जल्दी ही यह पता चल गया था कि राजपूतों के विभिन्न कुल एक साझे शत्रु के विरूद्ध भी एक झंडे तले इकट्ठे होकर नहीं लड़ेगें।

16 मार्च, 1527 को आगरा से 40 मील दूर कण्वाह (खनवा) में 10 घंटे की लड़ाई में फैसला हो गया। तोड़ेदार, बंदूकों, तोपों, और कुशल रणनीति के कारण बाबर विजयी हुआ और सांगा मैदान से भाग गया। भारत में मुगल साम्राज्य की गहरी नींव रख दी गई, जो 1857 में जाकर कही अंगरेजों के हाथों उखड़ी।

इस घटनाक्रम के मद्देनजर ये प्रश्न बरबस उठ खड़े होते हैं: राजपूतों को क्या यह जरा सी बात भी समझ नहीं आ सकी कि एकता में बल होता है, कि यदि वे मिल कर लड़ेंगे तो तबाही से बच जाएंगे?

जिन हजारों लाखों को लूटा व कैद किया जाता था, वे प्रतिरोध क्यों नहीं करते थे? उनके संबंधी व मित्र प्रतिकार क्यों नहीं करते थे? अपने देवी देवताओं की मूर्तियों के विदेशियों द्वारा किये जा रहे अपमान व भजंन और धर्मस्थानों के किये जा रहे विनाश के प्रति हिंदुओं में जनरोष की लहर क्यों नहीं दौड़ी?

इन प्रश्नों का एक वाक्य में उत्तर दें तो कह सकते हैं कि इस सबके लिये उत्तरदायी है हिंदू धर्म के नकारात्मक पक्ष।

हिंदू धर्म में शास्त्रवाद और अतीतवाद का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। यह कहा व माना जाता रहा है (अब भी कहा जाता है) कि पहले के ऋषि, मुनि और विद्वावन जो कह गए हैं, वह हर विषय में अंतिम है, जिससे मानवीय बुद्धि एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकती। अतः हिंदू धर्म में हर पुराने पोथे का उसके ज्यादा व कम पुराने होने के अनुपात में महत्व ज्यादा व कम हो जाता है।

घोर अतीतवादी

राजनीति के क्षेत्र में कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' हिंदुओं में इस विषय का सर्वोच्च शास्त्र माना जाता रहा है। आधुनिक काल के शुरू तक, हर हिंदू राजा इसका अक्षरशः पालन करना अपना धर्म मानता रहा है। राजपूत भी इसका अपवाद न थे।

कौटिल्य का कहना है :

राजा आत्मद्रव्यप्रकृतिसंपन्नो नयस्याधिष्ठानं विजिगीषु :
तस्य समंततो मंडलीभूता भूम्यनंतरा अरिप्रकृति,
व्यसनी यातव्यः अनापाश्रयों दुर्बलाश्रयो वोच्छेदनीय :
विपर्यये पीड़नीय, कर्शनीयो वा
भूम्यनंतरः प्रकत्यमित्रः तुल्याभिजनः सहजः
(अर्थशास्त्र 6–97–2)

अर्थात जो राजा आत्मसंपन्न, आमात्य आदि से युक्त और नीतिज्ञ है, वह विजिगीषु (जीत का इच्छुक) कहलाता है। ऐसे राजा के लिये चारों ओर के राजा शत्रु होते हैं। आश्रयहीन, दुर्बल और मुसीबत में पड़े हुये शत्रु राजा पर भी आक्रमण कर देना चाहिये। आश्रययुक्त और सबल शत्रु राजा को भी आक्रमण कर देना चाहिये। आश्रयुक्त और सबल शत्रु राजा को किसी अपकारक (हानि पहुंचा सकने में समर्थ) द्वारा तंग करवाना चाहिये या अन्य उपायों से उस की सेना और उसके धन को क्षति पहुंचानी चाहिये। विजिगीषु राजा की सीमा से लगे राज्य का राजा उस का स्वाभाविक शत्रु है और विजिगीषु के वंश में उत्पन्न उसका दायभागी (पैतृक संपत्ति का हिस्सेदार) भी उसका शत्रु है। ये दोनों 'सहज शत्रु' कहलाते है।

अभ्युच्चीयमानो विगृहणीयात्
गुणातिशयोयुक्तो यायात्
(7/98–99/1)

अर्थात यदि शत्रु की तुलना में स्वयं को बलवान समझे तो उसे हानि पहुंचायें। यदि स्वयं को सर्वसंपन्न एवं शक्तियुक्त समझे तो चढ़ाई कर दे।

यदा व पश्येत्–व्यसनी परः तदा विगृह यायात्.
(7/103–7/4)

अर्थात् जब देखे कि शत्रु व्यसन (मुसीबत) में फंसा है, तब विग्रह कर के चढ़ाई कर दे।

लघुव्यसनममित्रं यायात्

अर्थात सब काम छोड़ कर पहले मुसीबत में फंसे शत्रु पर चढ़ाई करनी चाहिये, चाहे मुसीबत छोटी ही क्यों न हों

प्रायशश्चार्या : परव्यसने यातव्यमित्युपदिशंति.
शक्त्युदये यातव्यमनैकांतिकत्वाद् व्यसनानामिति कौटिल्यः
यदा वा प्रयातः कर्शयितुमुच्छेत्तुं वा शक्नुयादमित्रं, तदा यायात्.
(9/135–138/1)

अर्थात् प्राचीन आचार्यों का मत है कि जब भी शत्रु पर विपत्ति आई जान पड़े, तभी आक्रमण कर देना चाहिये, इसके विपरीत मेरा (आचार्य कौटिल्य का) मत है कि विजिगीषु जब भी अपने को शक्तिसंपन्न समझे, उसे तभी आक्रमण कर देना चाहिये, अथवा जिस समय भी शत्रु का निर्बल पाया जा सके या उसे आसानी से विनिष्ट किया जा सके, तभी चढ़ाई कर देनी चाहिये।

तथैव भम्येकांतरा मित्रप्रकृतिः भूम्येकांतरं प्रकृतिमित्रम्
(6–97–2)

अर्थात विजिगीषु राजा के राज्य से सटी सीमा वाले राज्य के बाद का राजा मित्र होता है। जिस राजा की सीमा विजिगीषु के राज्य की सीमा से सटी नहीं, वह मित्र होता है।

इन कथनों में कौटिल्य ने मुख्य रूप से तीन बातें कहीं है :

(1) पासपड़ोस के राजा एक दूसरे के स्वाभाविक शत्रु होते हैं,
(2) दूर का राजा मित्र होता है,
(3) जब अपना शत्रु मुसीबत में हो या जब अपनी शक्ति पर्याप्त हो, शत्रु पर आक्रमण कर देना चाहिये। यदि शत्रु मुसीबत में हो जब अपनी शक्ति पर्याप्त हो, शत्रु पर आक्रमण कर देना चाहिये। यदि शत्रु सबल हो तो किसी अपकारक द्वारा उसे क्षति पहुंचानी चाहिये।

कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' का अनुसरण करते हुये राजपूतों ने हर पड़ोसी राजा को स्वाभाविक शत्रु मानकर उसका नाश करने का कोई मौका हाथ से नहीं जाने दिया। जब अपने अपने शत्रु को दबाना उनके लिये संभव न था, उन्होंने उन्हें अपकारकों अर्थात् विदेशी आक्रमकों के हाथों पिटने दिया। कई बार अपकारकों को खुद निमंत्रण दिये और अपनी सीमा से न लगने वाले विदेशी आक्रमकों को अपना स्वाभाविक मित्र समझा। यही है उनकी परस्पर घातक, अंतहीन लड़ाइयों का रहस्य।

यदि धर्मग्रन्थों के स्तर तक उठाये गये अर्थशास्त्र के पूर्वोक्त आदेश व निर्देश मौजूद न होते तो राजपूत अवश्य सामान्य बुद्धि के मुताबिक चलते और अपनी हरकतों से देश को हजारों वर्षों के लिये परतंत्रता के जुये के नीचे कदापि न जाने देते।

एक बात जो मन में उठनी स्वाभविक है, वह यह है कि क्या 'अर्थशास्त्र' के आदेशों का पालन करना राजपूतों के लिये अनिवार्य और अपरिहार्य था ? या, क्या उनकी कोई और भी मजबूरी थी ?

इनका उत्तर ढूढ़ना कठिन नहीं हैं। इन प्रश्नों का उत्तर है–हाँ और उसके पीछे मूल कारण हिंदू धर्म के नकारात्मक पक्ष ही हैं।

राजपूत कहे जाने वाले लोग मध्य एशिया के निवासी माने जाते हैं, उनके मूल निवास स्थान के विषय में दो मत हो सकते हैं, लेकिन इस बात पर प्रायः सभी विद्वान सहमत हैं कि वे किन्हीं विदेशी आक्रमकों के वंशज हैं, पांचवीं छठी शताब्दी में इन्होंने तत्कालीन हिंदू सैन्य संगठनों को कुचल कर यहां सदा के लिये अपना निवास स्थान बना लिया था।

धीरे–धीरे परंतु निरंतर ये हिंदू धर्म में प्रविष्ट होने लगे, ब्राह्मणों ने काल्पनिक वंशावलियां बनाकर पुराणों में इन्हें वशिष्ठ की संतान बनाने की कोशिशें की। (देखें, द मैनेस आफ हिंदू इंपीरियलिज्म, पृ. 130 तथा जोएल लरूस कृत कल्चर एंड पोलिटिकल मिलिटरी बिहेवियर, द हिंदूज इन प्रि माडर्न इंडिया , पृ. 147–48)।

ये लोग नए नए हिंदू बने थे, अतः हिंदू धर्म के कट्टर अनुयायी थे। रमेशचंद्र दत्त ने 'ए हिस्टरी आफ सिविलाइजेशन इन ऐंशेट इंडिया' में लिखा है कि राजपूतों की उत्पत्ति का मूल स्त्रोत चाहे कुछ भी हो, इतना तो निर्विवाद है कि वे हिंदू धर्म में नवागंतुक थे। सब नए धर्म को पुनर्जागृत करने का उत्कट उत्साह था। (जिल्द 2 पृ. 165)

धर्म की संकीर्णता

इसी नव हिंदूपन के अत्याधिक उत्साह में राजपूत हिंदू धर्म के साथ दूरनिकट से संबद्ध प्रत्येक चीज को हिंदुओं से भी ज्यादा कट्टरता, अनुदारता और मतिमंदता से अपना रहे थे ताकि वे अपने को हिंदू धर्म व समाज में स्थापित कर सकें। इसी प्रक्रिया में कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' बहुत कट्टरता से लागू किया गया और परिणाम सब के सामने है। एक तरह से हम कह सकते हैं कि राजपूत हिंदू धर्म के नकारात्मक पक्षों की संकीर्णता के शिकार हुये और देश उनके दुराग्रहों का शिकार हो कर रह गया।

कुछ लोगों ने राजपूतों और हिंदू धर्म को निर्दोष बताने के जोश में यह कहा है कि परस्पर घातक लड़ाई झगड़े तो अन्य देशों में भी चले, लेकिन वे इस तरह गुलाम नहीं हुये जिस तरह भारत हुआ।

ऐसे झगड़े तो मध्य एशिया के मुसलमानों में भी थे। अतः भारत की गुलामी का कारण राजपूतों की परस्पर घातक लड़ाईयां नहीं थी। (देखें : डा. रामगोपाल मिश्र, इंडियन रजिस्टेंस टुअर्ली मुसलिम इन्वेडर्स अप टू 1206 ए.डी.पृ. 121 तथा सीताराम गोयल, हिस्ट्री आफ हीरोइक हिंदू रजिस्टेंस टु अर्ली मुसलिम इन्वेडर्स, पृ. 35)

ये बातें अतीतवाद की पोषक और इतिहास की गलतियों से सबक न सीखने की घातक प्रवृत्ति की द्योतक हैं। यह गंदगी को ढक कर उसे सुंदर एवं स्वीकार्य बनाने का ढोंग है।

हर जगह आपसी लड़ाइयों ने तबाही और गुलामी का साम्राज्य खड़ा किया है, इसमें जरा भी संदेह नहीं है और यह भी सच है कि दुनिया के अन्य देशों में भी बहुत ऐसी लड़ाइयाँ हुई हैं। लेकिन भारत में हुई नित्य की लड़ाइयों और अन्यत्र हुई ऐसी लड़ाइयों में एक विशेष अंतर है। बाहर लोग व्यक्तिगत स्वार्थवश लड़ते रहे, लेकिन जब सब को सांझा खतरा महसूस हुआ, तब इकट्ठे भी हुये और सारी जनता ने पूरी शक्ति से विदेशी आक्रमकों के मुंह भी तोड़े।

लेकिन अपने यहां इन आपसी लड़ाइयों को एक तरह का धार्मिक संरक्षण प्राप्त था। अतः उन्हें छोड़ कर एकता स्थापित करने का धर्मविरोधी काम भला कोई कैसे कर सकता था ?

यहां के राजनीति के सर्वोच्च और प्राचीनतक ग्रंथ ने, जिसे शस्त्र के कथित धनी ने लिखा था, इस तरह परस्पर लड़ने को उचित करार दे कर उसे श्रेष्ठ राजा का एक विशिष्ट गुण घोषित कर रखा था। अतः यहां बाहरी एवं सांझे खतरे को देखते हुए भी न संयुक्त प्रतिरक्षा की संभावना नहीं थी।

दूसरे, यहां लड़ाई का काम धर्मशास्त्रों के आदेश से केवल क्षत्रिय को था। बाकी जनता शत्रु का प्रतिरोध नहीं कर सकती थी। ऐसे में हिंदुओं की परस्पर घातक लड़ाइयों की तुलना विदेशी समाजो में दिखाई पड़ने वाली ऐसी मानवीय कमजोरी से नहीं की जा सकती।

इसके अलावा हिंदुओं और मध्य एशिया के विदेशी आक्रांताओं के धर्मों में बुनियादी अंतर था, जिस के कारण दोनो समाजों के अंदर की परस्पर घातक लड़ाइयों का परिणाम भी एक सा नहीं हो सकता था। इसी लिये सर यदुनाथ सरकार ने कहा है, " यहां कुल राजा और राजा के बीच निरंतर वैमनस्य बना रहता था तथा केवल कुछ अवसरों को छोड़ कर शक्तिशाली हिंदू राजाओं ने कभी एक साथ मिलकर विदेशी आक्रांताओं का सामना नहीं किया और जब इन्होंने एक साथ मिलकर सामना किया भी, तब संगठित सेनाओं में इतना बिखराव था और उनका सैन्य संचालन इतना धीमा था कि वे निर्णायक विजय नहीं प्राप्त कर सके।

" ये राज्य कुल के विरूद्ध, जाति के विरूद्ध बैर और ईर्ष्या से बुरी तरह छिन्न भिन्न थे। हिंदू धर्म का दर्शन उदात्त हो सकता है, किंतु वह पूर्ण सामाजिक एकता तथा अनुयायियों की समानता की सीख नहीं देता है। किंतु पूर्ण सामाजिक एकता तथा अनुयायियों की समानता इसलाम की सबसे महत्वपूर्ण देन है। " (भारत का सैन्य इतिहास पृ. 29–30)

संयुक्त सैन्य अभियान

विश्व के प्राचीन इतिहास पर एक नजर दौड़ाएं तो यह बात स्पष्ट दिखाई पड़ेगी कि अति प्राचीन काल से सर्वत्र बाहरी हमलों के मुकाबले के लिये संयुक्त सैन्य अभियान चलाने की परंपरा रही है। चीन में ईसा पूर्व की शताब्दियों (500 ई.पू. 221 ई.पू.) में जिन्हें चीनी इतिहास में 'युद्धरत राज्यों का युग कहते हैं। ऐसी नीतियां अपनाई गईं, जिनसे सैन्य शक्ति एक केन्द्र में इकट्ठी हुई।

थूसिडिडिज की 'हिस्ट्री आफ द पेलोपोनेशिअन वार' से स्पष्ट होता है कि कैसे यूनानियों ने बारबार संयुक्त सैन्य कार्रवाई की थी, जब यूनान में नगर राज्यों को आक्रमक शक्ति से खतरा पैदा हो गया था। मेक्यावेली (1469–1527 ई.) के उपदेशों में भी कई जगह संयुक्त सैन्य अभियान की उपयोगिता और उसके लिये उपयोगी स्थितियों पर विचार व्यक्त किये गये हैं।

इससे स्पष्ट है कि विशिष्ट परिस्थितियों में हर एक को अपने बचाव के लिये अपने क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठकर संयुक्त सैन्य अभियान की शरण में जाना पड़ा। भारत के राजपूतों जैसे जिन लोगों ने ऐसा नहीं किया, उन्होंने खुद तो दुष्परिणाम भोगे ही, सारे देश की जनता एवं भावी पीढ़ियों को भी अपमानजनक, घातक एवं नारकीय विपत्तियाँ झेलने के लिये विवश किया।

अब दूसरे प्रश्न को लेते है। जिन हजारों व लाखों लोगों को लूटा व कैद किया जात था, वे प्रतिरोध क्यों नहीं करते थे ? उनके संबंधी व मित्र प्रतिकार क्यों नहीं करते थे ?

इस प्रश्न का उत्तर कठिन नहीं है। हिंदू लोग धर्मशास्त्रों में अंधाधुंध विश्वास करने और जातिभेद को सख्ती से व्यवहार में लाने को शताब्दियों से सर्वोच्च नैतिक और श्रेष्ठ धार्मिक कार्य मानते आ रहे हैं। उनमें शस्त्र धारण करने का अधिकार सिर्फ क्षत्रिय जाति को दिया गया है। शेष सारी जनता –ब्राह्मणों, वश्यों, बहुसंख्यक शूद्रों और क्षत्रिय वर्ण सहित सभी वर्णों की स्त्रियों का इस दिशा में कोई कदम उठाना अधर्म कहा गया हैं यही कारण है कि जब विदेशी आक्रामक आते तो वे गांव के गांव नष्ट कर देते थे और कोई उनका प्रतिरोध नहीं करता था।

मुहम्मद बिन बख्तियार सिर्फ 18 घुड़सवारों के साथ बंगाल और बिहार को कुचल कर चला गया था।

धर्मशास्त्रों में अन्य वर्णों के शास्त्रधारण के विषय में जो आदेश मिलते हैं, वे बहुत संकुचित उद्देश्यों से प्रेरित और परस्पर विरोधी हैं।

आपस्तंब (1–10–29–6) ने तो कहा है :

परीक्षार्थोऽपि ब्राह्मण आयुधं नीददीत (ब्राह्मण तो हथियार को जांचने तक के लिये भी हाथ में न ले), लेकिन कुछ दूसरे धर्मग्रन्थों ने संकट काल में ब्राह्मण और वैश्य को शस्त्रधारण की अनुमति दी है :

गवार्थे ब्राह्मणार्थे व वर्णानां वापि संकरे
गृहणीयातां विप्रविशौ शस्त्रं धर्मव्यपेक्षया
(बौधायन धर्मसूत्र 23–2–80)

अर्थात गौओं और ब्राह्मणों की रखा के लिये वर्णसंकर को रोकने के लिये ब्राह्मण और वैश्य शस्त्र धारण कर सकते हैं।

आत्मत्राणे वर्गसंगर्वे ब्राह्मणवैश्यों
शस्त्रमादीयाताम्
(वसिष्ठ स्मृति 3–24)

अर्थात अपनी रक्षा और वर्णों में गड़बड़ी रोकने के लिये अर्थात वर्णव्यवस्था को टूटने से रोकने के लिये ब्राह्मण और वैश्य शस्त्र धारण करें।

शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्य धर्मो यत्रोपरूध्यते,
द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते।
आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च संकरे,
स्त्रीविप्राम्युपपत्तौ च घ्नन् धर्मेण न दुष्यति
(मनुस्मृति 8/348–49)

अर्थात द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) को तब शस्त्र धारण करना चाहिये जब धर्म को खतरा हो, जब वर्णसंकरता फैलने वाली हो, अर्थात जब अंतर्जातीय विवाह होने लगें। दक्षिण में दिये जाने वाले द्रव्य, स्त्रियों और ब्राह्मणाके की रक्षा करते हुये यदि व्यक्ति किसी को मारता है तो उसे पाप नहीं लगता।

इन आदेशों में यद्यापि ब्राह्मण और वैश्य को विपत्तिकाल में शस्त्र धारण करने की अनुमति है, यद्यापि ब्राह्मण और वैश्य को विपत्तिकाल में शस्त्र धारण करने की अनुमति है, तथापि ये देश को शत्रु से बचाने के लिये किसी काम नहीं आये और न आने ही थे। इनमें गौओं और ब्राह्मणों की रक्षा करने तथा अंतर्जातीय विवाहों को रोकने के लिये शस्त्र उठाने की बात तो कही गई है, लेकिन अपने देश (प्रदेश, राज्य, गांव आदि) की रक्षा के लिये शस्त्र उठाने की बात कहीं नहीं कही गई है।

दूसरे, इन आदेशों में भी (सब वर्णों की) स्त्रियों और बहुसंख्यक शूद्रों को शस्त्रधारण की अनुमति नहीं दी गई है।

तीसरे, जो वैश्य और ब्राह्मण वैसे सारी उम्र शस्त्रों से दूर रखे गये थे। यदि वे संकटकाल में शस्त्र उठाते भी प्रशिक्षित हमलावर सैनिकों का क्या बिगाड सकते थे?

गैरजाति व कर्मों का विरोध

यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि गीता ने, जो पूर्वोक्त धर्मग्रंथों की अपेक्षा बहुत ज्यादा लोकप्रिय धर्मग्रंथों की अपेक्षा बहुत ज्यादा लोकप्रिय धर्मग्रंथ है, किसी गैर क्षत्रिय को क्षत्रिय का धर्म अपनाने से रोकने के लिये बहुत लुभावनी भाषा में यह भयंकर शिक्षा दी कि अपनी जाति के लिये निश्चित काम करते हुये मर जाना भी बेहरत है, चाहे वे (काम) दोषपूर्ण ही क्यों न हों, परंतु दूसरे वर्ण का धर्म अर्थात किसी दूसरी जाति के लिये निश्चित किया गया काम अपनाना हानिकारक होता है।

श्रेयान स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्‌:
स्वधर्मे निधन श्रेयः परधर्मो भयावह :
(गीता/3/35)
स्वे स्वे कर्मण्यमिरतः संसिद्धं लभते नरः
स्वकर्मणा तमम्यर्च्य सिंद्धि विंदति मानव :
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्.
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्
(गीता, 18/45–48)

अर्थात अपने वर्ण (जाति) का निश्चित हुआ कर्म यदि वैसे बुरा भी हो, तो भी उसी मे कल्याण है। दूसरे वर्ण का कर्म, यदि आप भली प्रकार भी कर सकें तो भी नहीं अपनान चाहिये। अपने वर्ण के कामों को करते हुये मर जाना भी बेहतर है, क्योंकि दूसरे वर्ण के काम अपनाना भयावह है अर्थात उनसे नरक की प्राप्ति होती है।

अपने अपने वर्ण के कामों का पालन करता हुआ नर कल्याण को प्राप्त होता है जो इन्सान अपने वर्ण का कर्म करता है। वह उससे एक तरह से भगवान की ही पूजा करता है।

अतः वह कल्याण को प्राप्त होता है दूसरे वर्ण के काम को यदि आप भली प्रकार भी कर सकें तो भी उसे नहीं करना चाहिये, क्योंकि अपने वर्ण के काम बुरे होने पर भी श्रेष्ठ है।

हर वर्ण के काम स्वभावसिद्ध हैं, प्राकृतिक हैं, वे चाहे जैसे भी हों उन्हें करते हुये व्यक्ति को किसी प्रकार का पाप नहीं लगता है। अर्जुन अपने वर्ण के काम यदि दोषयुक्त भी हों तो भी उन्हें छोड़ना नहीं चाहिये।

धर्मभीरू हिंदू

स्पष्ट है कि हिंदू धर्म में गैर क्षत्रिय जनसंख्या का शस्त्रधारण करना बहुत बड़ा पाप माना गया है। कोई भी धर्मभीरू हिंदू ऐसा काम कैसे कर सकता था जो शास्त्र विरूद्ध हो, जो नरक में ले जाने का साधन हो और परलोक को बिगाड़ने वाला हो ? इसलिये हजारों मील फैले गावों को लूटा गया, जब लाखों लड़कियों व औरतों का अपहरण किया गया, तब किसी भी गैर क्षत्रिय हिंदू ने जिन की जनसंख्या 8 में 7 भाग से भी ज्यादा थी, कभी प्रतिरोध नही किया।

यदि कोई गैर क्षत्रिय व्यक्तिगत विपत्तिकाल में स्वार्थवश (अपनी रक्षा के लिये) धर्मग्रन्थों का उल्लंघन करके (पाप का कर्म करके) हमलावरों का क्या सामना करने का साहस करता भी तो वह शत प्रतिशत हमलावारों का क्या सामना कर सकता था? बिना पूर्व अभ्यास और प्रशिक्षण के, जीवन में केवल विपत्तिकाल में पहली बार तलवार उठाने वाला उस (तलवार) को अपने आप को तो अवश्य घायल कर लेगा, लेकिन शत्रु का कभी कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा।

अतः गैर क्षत्रिय हिंदुओं ने न कभी विदेशी आक्रांताओं का सामना किया और न वे कर ही सकते थे। इसलिये मेगस्थनीज ने लिखा है कि सिकंदर ने जब हमला किया तब क्षत्रिय लड़ रहे थे और किसान आदि अपने अपने काम में ऐसे निश्चित होकर लगे हुये थे, मानो कुछ हुआ ही न हो।

अब रहा तीसरा और अंतिम प्रश्न, अपने देवीदेवताओं की मूर्तियों के विदेशियों द्वारा किये जा रहे, अपमान व भंजन और धर्म स्थानों के किये जा रहे विनाश के विरूद्ध हिंदुओं में जनरोष की लहर क्यों नहीं दौड़ी ?

यह प्रश्न बहुत उचित और स्वाभाविक है, क्योंकि यदि सारा दिन धर्म की दुहाई देने वाले हिंदु देवीदेवताओं की मूर्तियों और देवमंदिरों के ध्वंस से क्रुद्ध होकर एक लहर के रूप में उठते तो विदेशी हमलावारों की कहीं हड्डी पसली तक न मिलती। लेकिन हिंदु नहीं उठे।

उनका न उठना आश्चर्यजनक लग सकता है। तब तो और भी ज्यादा जब हमें पता हो कि उस समय हिंदु लोग धर्म के लिये जान दे देते थे, काशी में जाकर आत्महत्या तक करते थे। लेकिन आश्चर्यचकित होने की अपेक्षा यदि उसका उत्तर ढूढ़नें की कोशिश करें तो पता चलेगा कि उनके अपने धर्म की रक्षा के लिये न उठने का कारण भी उनका धर्म ही था।

हिंदू धर्म शताब्दियों से यह शिक्षा देता आ रहा है कि चार युगों से सब से खराब और निकृष्ट कलियुग है जो पिछले हजारों वर्षों से भारत में शुरू हो चुका है। हिंदु धर्म ग्रन्थों की शिक्षा है कि कलियुग में देवीदेवताओं, धर्मस्थानों, धर्म आदि सबका बुरा हाल होता ही है। ऐसा कलियुग के प्रभाव के कारण होता है, जैसे :

राजन् यस्मिन् युगे यादृक प्रजा भवित
कालतः
नान्यथा तद्भवेन्नूनं युगधर्मोऽत्र कारणम्
यदि कलियुगस्यादिर्द्वापरस्य क्षयस्तथा,
नरकात् पापिनः सर्वे भवंति भुवि मानवः
एवं काल समाचारो नान्यथाऽभूत् कदाचन
तस्मात् कलिरसत्कर्ता तस्मिस्तु तादृशी प्रजा.
महांतोऽपि च धर्मज्ञाः अधर्मं कुर्वते नृप.
कलिस्वभाव एवैष परिहार्योन केनचित्,
निष्कृतिर्न हि राजेंद्र सामान्योपायतो भवेत्
(देवीभागवत महापुराण
6/11/26–27, 53–55)

अर्थात हे राजा, जिस युग में प्रजा की जैसी हालत होती है, वह कालवश ही वैसी होती है। उसे किसी भी तरह बदला नहीं जा सकता, क्योंकि वह युगधर्म के कारण वैसी होती है। जब द्वापर का अंत और कलियुग का आरंभ होता है, तब नरक के सब पापी धरती पर मानव योनि में जन्म लेते हैं।

काल के इस परिवर्तन को कभी बदला नहीं जा सकता, स्पष्ट है, कलियुग बुराई को जन्म देता है और प्रजा को बुरी बनाता है। इसलिये बड़े–बड़े धर्मज्ञ तक अधर्म करने लगते हैं। यह कलियुग का ही प्रभाव है। इसे कोई बदल नहीं सकता है। हे राजन, किसी सामान्य तरीके से इसके छुटकारा नहीं पाया जा सकता।

वेदमार्गे प्रलीने च, अधर्मवृद्धया
लोकानामल्पायुर्भुवति.
निस्सत्वानामशौचानां निह्रीकाणां तथा
नृणाम्,
यद्यद दुःखाय तत्सर्वं कलिकाले भविष्यति
(विष्णु पुराण 6/1/39, 58)

अर्थात कलियुग में वेदमार्ग लुप्त हो जायेगा, अधर्म की वृद्धि होगी और लोगों की आयु अल्प होगी। कलियुग में वे सब दुःख होंगे जो शक्तिहीन, शौचहीन और लज्जाहीन व्यक्तियों को प्राप्त हो सकते हैं।

शोकमोहौ भयं दैन्यं कलिस्तमसि स्मृतः
दस्युकृष्टा जनपदाः
उद्विग्नाः संति च जनाः
(गरूड़ पुराण, 215/27–28,32)

अर्थात कलियुग में शोक, मोह, भय और दीनता का चारों ओर साम्राज्य होता है। जनपदों (शहरों, कस्बों) का दस्यु (लुटेरे) लूटते और रौंदते हैं। कलियुग में जनता चिंताग्रस्त रहती है।

अर्थात कलियुग में दस्युओं, चोरों और दुष्टों द्वारा भले लोग परिपीड़ित होते हैं। म्लेच्छ और यवन (विदेशी और मुसलमान) राजा होते हैं जो धर्म (हिंदूधर्म) की निंदा करते हैं। वे साधुओं की भी सत्कीर्ति को नष्ट करने में खुशी महसूस करते हैं। सारा संसार देव मूर्तियों से रहित और भय से व्याकुल हो जाता है

अर्थात कलियुग में वैदिक धर्म नष्ट हो जाता है। धर्म, यज्ञ और कर्मकांड नष्ट हो जाते हैं। दूसरे राजाओं के आक्रमण और उपद्रव होने लगते हैं।

स्पष्ट है कि हिंदू राजाओं के आये दिन के परस्पर घातक युद्धों के न रूक सकने, विदेशियों द्वारा कैदी बनाये हिंदू भाइयों, गुलाम बनाई हिंदू नारियों और धर्मस्थानों की रक्षा न हो सकने का एक ही कारण है। कलियुग में ऐसा होता ही है। अंधविश्वास करने वाली हिंदू मानसिकता।

ऐसे में हिंदू समाज का भला इसी में है कि धर्म के ऐसे नकारात्मक व घातक स्वरूप को जल्दी से जल्दी त्याग दिया जाए और बुद्धिवाद के प्रकाश में दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ा जाये।

साभार – हिन्दू इतिहास हारों की दास्तान
लेखक : अज्ञात सुरेन्द्र कुमार शर्मा

बुद्ध का अष्टांगिक मार्ग

छठी शताब्दी पूर्व का काल समस्त विश्व में एक नवीन विचार धारा का काल था। छठी शताब्दी ईसा पूर्व तक समस्त संसार में आड़म्बर, अन्याय, पाखण्ड तथा अत्याचार का बोल बाला था। यूरोप में अन्धविश्वास एवं आण्डम्बर चरम सीमा पर था। भारत इस काल में अछूता नहीं था। यहाँ पर आडम्बर यज्ञ अन्धविश्वास जातिवाद छुआछूत एवं पत्थर पूजा अपनी चरम सीमा पर थी। छठी शताब्दी में भारत में एक नवीन विचार धारा का श्री गणेश हुआ, जिसे नव जागरण या रनेशा के नाम से जाना जाता है।

भारत में धार्मिक कर्मकाण्ड एवं अन्धविश्वास के कारण समस्त समाज को कई वर्गों मे बाँट दिया गया था। ये वर्ग थे – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

शूद्रो की स्थिति उस समय बड़ी दयनीय थी उनसे पशुओं से बद्तर व्यवहार किया जाता था। उन्हें निम्न एवं अस्वच्छ पेशे अपनाने के लिए बाध्य किया गया, जिसके कारण उनकी आर्थिक, सामाजिक एवं शैक्षिक अवनति हुई। उनसे सभी अधिकार छीन लिये गये थे। भारत में ये वर्ग शूद्र पिछड़ादास, दस्यु एवं दलित आदि नामों से पुकारा गया।

भारत में छठी शताब्दी ईसापूर्व में दो विचारधाराओं का जन्म हुआ, जिसमे एक विचार धारा जैन धर्म, जिसके प्रर्वतक महावीर स्वामी थे, दूसरी विचार धारा बौद्ध धर्म जिसके प्रवर्तक गौतम बुद्ध थे। गौतम बुद्ध का जन्म 563 ईसा पूर्व कपिल वस्तु के निकट लुम्बिनी नामक स्थान पर हुआ था। इनका बचपन का नाम सिद्धार्थ था इनके पिता का नाम शुद्धोधन एवं माता का नाम माया देवी था। गौतम बुद्ध बचपन से ही विचारशील एवं एकान्त प्रिय थे। बड़े होने पर गौतम बुद्ध ने देखा कि संसार मे दुःख है, इस दुःख को कैसे दूर किया जाय।

गौतम बुद्ध ने चार आर्य सत्य माने हैं

1. संसार दुःख मय है।
2. दुःख का कारण तृष्णा है।
3. दुःख दूर करने के उपाय है।
4. दुःख दूर करेनके लिए अष्टागिक मार्ग है।

बुद्ध ने संसार के दुःख को दूर करने का एक मार्ग अष्टांगिक (मध्य मार्ग) बताया। अष्टांगिक मार्ग के आठ साधन हैं। ये मार्ग सरल, मानवता पूर्ण, व्यवहार के नियम हैं।

बुद्ध ने निम्न अष्टांगिक मार्ग बताये :–

1. सम्यक् दृष्टि
2. सम्यक् संकल्प
3. सम्यक् वाणी
4. सम्यक् जीविका
5. सम्यक् कर्म
6. सम्यक् स्मृति
7. सम्यक् व्यायाम
8. सम्यक् समाधि

1. सम्यक् दृष्टि : बुद्ध ने सर्वप्रथम सम्यक् दृष्टि की व्यवस्था की है, जो अष्टांगिक मार्ग में प्रथम और प्रधान है। बुद्ध के अनुसार सम्यक् दृष्टि मनुष्य को बन्धन मुक्त कर सकती है। इसका उद्देश्य अविद्या का विनाश है। अविद्या का अर्थ है कि आदमी दुख को न जान सके, आदमी दुख के निरोध के उपाय को जान सके, आदमी सत्य को जान सके। सम्यक् दृष्टि का मतलब है कि आदमी मिथ्या विश्वास से मुक्त हो, कर्मकाण्ड को व्यर्थ समझे, शास्त्रो की पवित्रता की विचारधाराओं से मुक्त हो। सम्यक् दृष्टि का मतलब है कि आदमी मिथ्याधारणाओं से मुक्त हो, आदमी का मन स्वतन्त्र हो, विचार स्वतन्त्र हो, उसको सही बात का ज्ञान हो। पाखण्ड, कर्मकाण्ड एवं बाहय आडम्बरों को पहचाने एवं उनसे मुक्त रहें।

2. सम्यक् संकल्प : बुद्ध के अनुसार आदमी की आशाएं, विचार, आकांक्षाएं उच्च स्तर की हो, निम्न स्तर की न हो हमारे योग्य हो, अयोग्य न हो। जिसमें सभी का कल्याण हो सके।

3. सम्यक् वाणी : बुद्ध के अनुसार मनुष्य 1. सदैव सत्य बोले, 2. असत्य न बोले, 3. दूसरों की बुराई न करे, 4. दूसरों की झूठी अफवाह न फैलाए, 5. किसी के प्रति कठोर वचनों का व्यवहार न करें, 6. सभी के साथ विनम्र वाणी का व्यवहार करें, 7. व्यर्थ, मूर्खता पूर्ण बाते न करें, बल्कि आदमी की वाणी बुद्धि संगति हो, सार्थक हो और साउद्देश्य हो।

4. सम्यक् जीविका : संसार में प्रत्येक व्यक्ति अपना जीवन चलाने के लिए, जीविका अर्जित करता है। बुद्ध के अनुसार जीविका प्राप्ति के ढंग अलग–अलग है कुछ बुरे ढंग से दूसरों को हानि पहुचाकर अपनी जीविका अर्जन करते हैं। कुछ अच्छे ढंग से जीविका चलाते हैं अर्थात् किसी को कोई हानि पहुचाये बिना अन्याय तथा गलत तरीके से अपनी जीविका नही चलाते। बुद्ध के अनुसार किसी को कष्ट पहुचाये बिना, जीविका अर्जन सम्यक् जीविका है।

5. सम्यक् कर्म : मनुष्य को ऐसे कार्य करने चाहिए जिससे दूसरे व्यक्ति की भावनाओं और अधिकारों को ठेस न लगे, मनुष्य को दूसरों की भावनाओं का ख्याल रखना चाहिये।

6. सम्यक् स्मृति : सम्यक् स्मृति का मतलब है हर बात पर ध्यान देना, यह मन की सतत् जागरुकता है। मन से अकुशल विचार उठते हो, उन विचारों को या बुरे विचारों को मन में न उठने देना ही सम्यक् स्मृति है।

7. सम्यक् व्यायाम : सम्यक् व्यायाम अविद्या को नष्ट करने की प्रथम सीढ़ी है। सम्यक् व्यायाम के चार उद्देश्य है। 1. अष्टांगिक मार्ग विरोधी चित प्रवृत्तियों की उत्पत्ति को रोकना 2. ऐसी चित प्रवृत्तियों को दबाना जो उत्पन्न हो गई है। 3. ऐसी चित प्रवृत्तियों को उत्पन्न करना जो अष्टांगिक मार्ग की आवश्यकता की पूर्ति में सहयाक हो। 4. अच्छी चित प्रवृत्तियों में और अधिक वृद्धि करना और उनका विकास करना।

सम्यक् व्यायाम द्वारा शारीरिक मानसिक बौद्धिक विकास होता है। इसके द्वारा एक नवीन ऊर्जा का प्रवेश होता है, शरीर में रोग एवं बुरे विचारों से लड़ने की शक्ति उत्पन्न होती है मन से शुद्धता तथा शरीर निरोग रहता है।

8. सम्यक् समाधि : अष्टांगिक मार्ग की पांच बाधाएं है। ये लोभ, द्वेष, आलस्य, विचिकित्सा, अनिश्चय। इन से बचने को मुक्ति हो यह मार्ग है समाधि, जिसका अर्थ है एकाग्रता, मन की शान्ति।

गजराज सिंह
स्नातक अध्यापक
स्वामी चन्द दास इ० कालेज इसवा, फतेहपुर
सदस्य - डा० अम्बेडकर विकास समिति फतेहपुर
मो० नं० - 09305292248

सेवा में,

नाम श्री.....

पता .....

.....

.....

द्रविड़ भारत परिवार की ओर से

बोधिसत्व डा. भीमराव अम्बेडकर

परीनिवार्ण दिवस पर हार्दिक श्रृद्धांजलि

यार से ऐसी यारी रख
दुःख में भागीदारी रख
चाहे लोग कहे कुछ भी
तू तो जिम्मेदारी रख
वक्त पड़े काम आने का
पहले अपनी बारी रख
मुसीबते तो आएगी
पूरी अब तैयारी रख
कामयाबी मिले न मिले
जंग हौसलों की जारी रख
बोझ लगेगें सब हल्के
मन को मत भारी रख
मन जीता तो जग जीता
कायम अपनी खुदारी रख

संकलनकर्ता
भानु प्रताप सिंह
मथुरा